# सम्बोधि

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज

# तांत्रिकी ग्रंथमाला

विद्या क्या है ? विद्या वह है जिससे विमुक्ति हो। विमुक्ति हो सीमा से, विमुक्ति हो चक्रीय परिधि से और असीम-अनन्त हमारी विचरण स्थली बन सके। असीम में विचरण करती हमारी उन्मुक्त स्वतंत्रता अनन्त से आते अव्यक्त संदेशों को सुन सके।

ज्ञानगगन की उन्मुक्त स्वतंत्रता का उल्लास भरा संदेश तांत्रिकी में निहित है। अगाध रहस्य सागर के तलवर्ती अबूझ रहस्यों की मौनभरी उपलब्धि का स्फुट संकेत है "तांत्रिकी।" मानव और मानवेतर क्षितिज की प्राची पर उगते इस बालरवि की झलक एक नव-प्रभातमयी उषा की नव-सूचना है।

"तांत्रिकी" मृत्यु से अमृत की ओर, अंधकार के तमसाच्छन्न प्रदेश से स्फटिक सन्निभ, ज्योतिमण्डित प्रदेश की ओर का दिशा संकेत है। "तांत्रिकी" असत् के पथिक को सत् का मार्गदर्शन कराने को प्रस्तुत ज्योतिर्मयी दीपशिखा भी है।

सजिल्द : १२)

8229 12|
T-75

I,

तांत्रिकी ग्रंथमाला ( प्रथम खण्ड )

# सम्बोधि

*

मूल लेखक

महामहोपाध्याय पद्मविभूषण

## डा० पं० गोपी नाथ कविराज

एम. ए., डी. लिट्

अनुवादक

## एस. एन. खण्डेलवाल

* संरक्षक

म० म० आचार्य रामेश्वर झा

* तांत्रिकी ग्रंथमाला ( प्रथम खण्ड )

प्रथमावृत्ति १९८१

* सम्पादक मण्डल

आचार्य पं० ब्रह्मगोपाल भादुरी, एम. ए.
डा० रामस्वरूप आर्य, एम. ए., पी. एच. डी.
भूपेन्द्रनाथ सिंह, एम. ए.

* प्रबन्धकारी सम्पादक

राधिकारमण श्रीवास्तव, एडवोकेट

* ग्रंथमाला प्रवर्त्तक

दादा सीतारामजी, अखण्ड महायोग संघ, वाराणसी

* प्रकाशक

डा० रमेश, एम. ए., पी. एच. डी.
तांत्रिकी प्रकाशन
B. 31/32 लंका, वाराणसी

* संयोजक

इन्डियन इन्स्टीट्यूट आफ तांत्रिक स्टडीज
B. 8/20 वसन्त विहार, नई दिल्ली

* मुद्रक

सन्तोष कुमार उपाध्याय
नया संसार प्रेस,
भदैनी, वाराणसी

# निवेदन

तांत्रिकी ग्रंथमाला का प्रथम पुष्प सुविज्ञ पाठकों की सेवा में अर्पित किया जा रहा है। १०० खण्डों में समाप्य इस ग्रंथमाला का प्रकाशन महामहोपाध्याय डा० पं० गोपीनाथ कविराज जी की स्मृति में उन्हीं के अनन्य सहचर एवं एकमेव शिष्य महातंत्रयोगी दादा सीतारामजी की विशेष प्रेरणा एवं आशीर्वाद से संभव हो सका है। तंत्र फाउन्डेशन की सहसंस्था इण्डियन इन्स्टिट्यूट आफ तांत्रिक स्टडीज की ओर से इस योजना हेतु अर्थ सहायता प्रदान की जा रही है जिससे इस विशाल ग्रंथमाला का प्रकाशन हो सकेगा।

तांत्रिकी ग्रंथमाला के विभिन्न खण्डों के माध्यम से भारतीय दर्शन एवं साधन जगत् के यथार्थ स्वरूप का जनमानस के सम्मुख प्रकाशन ही इस प्रकाशनायोजन का वास्तविक लक्ष्य है।

'तांत्रिकी ग्रन्थमाला' द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत 'गुरुदर्शन' तथा तृतीय खण्ड के रूप में 'आन्वीक्षकी' का संयोजन हो रहा है। पाठकों की सेवा में इनका यथाशीघ्र प्रस्तुतीकरण होगा।

निवेदक—

**सम्पादक मण्डल**

# विविध


| | | | |
|---|---|---|---|
| (१) | अवधूत संदेश | — | अघोरेश्वर भगवान राम जी |
| (२) | आशीर्वचन | — | स्वामी मुक्तानन्द जी |
| (३) | शुभाशंसा | — | सम्पादक 'कल्याण' |
| (४) | पूर्वाभिनन्दन | — | अमृत लाल नागर |
| (५) | संदेश | — | डा० रामजी लाल सहायक |
| (६) | श्रद्धेय कविराज जी | — | आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| (७) | प्रज्ञामूर्ति कविराज जी | — | महर्षि महेश योगी |

# अवधूत सन्देश

प्रिय श्री खण्डेलवाल जी,

"कपालेश्वराय नमः" । पूज्यनीय गोपीनाथ कविराजजी की पुण्य स्मृति के उपलक्ष्य में आपका पत्र एक पत्रावली के साथ प्राप्त हुआ । अपार खुशी और प्रसन्नता हुई । महान पुण्य का उदय समझता हूँ कि जगत् जननी संस्कृति रूपा भारत माता के ऐसे यशस्वी सुपुत्रों, शहीदों एवं चिन्तकों, जो रागरहित चित्त से जीवन जीते हैं, की जीवन सामग्रियों एवं विचार तत्व के संग्रह की प्रेरणा के प्रादुर्भाव से आप अपने विचारधारा प्रवाह द्वारा स्वस्थ पथ परिलक्षित कराने जा रहे हैं ।

कोई भी साधक वीर्य की उपेक्षा कर वीरत्व को प्राप्त नहीं होगा । किसी भी तरह के ध्यान धारणा एवं चित्त की समाधि के लिये वीर्य संग्रह अनिवार्य है । मोह के राग में रमण करने वाला प्राणी महात्मा गोपीनाथ कविराज जी के जीवन का व्यवहार पक्ष कैसे प्रस्तुत करता है, इसे मैं देखूंगा और बहुत ही आनन्द आयेगा इसे देखकर । अघोरेश्वर, कापालिक, औधड़ या अघोरी जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र से विरत होते हैं । इस स्थिति में वे अभ्यन्तर की आत्मिका शक्ति के सिवा बाहरी जगत की प्रत्यक्ष या परोक्ष शाश्वतता से रागरहित रहते हैं । अपने आपका, अपने आप में जो नवीनतम यंत्रवत् घट रहा है, उसे ही वे सत्य समझते हैं और उसका जो व्यवहार पक्ष है, उसका ही वे रसास्वादन करते हैं । महान साधकों एवं उपासकों के पास मंत्र, क्रिया और औषधि द्वारा परमाणुओं का विशाल भण्डार एकत्रित एवं संग्रहीत हो जाता है, जिसका अंकन उन्हें नहीं हो पाता । किन्तु भाव प्रवाह में आकर वे यदि कुछ कह देते हैं, कर देते हैं, तो उसी आश्चर्य को दृष्टिगत रखते हुए जन समूह उस प्राणिविशेष या महात्मा विशेष को सिद्ध संज्ञा से अलंकृत करता है । बहुत से जन उन्हें आकाशगामी पृथ्वी में प्रवेश करते या जलाशय में डूबते दृष्टिगोचर करते हैं । इन सभी रहस्यों का प्राकट्य वीर्य संग्राही पुरुषों में होता है ।

मुझे आशा है कि आप प्रसन्न होंगे । मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपको इस महान कार्य में सफलता अवश्य मिलेगी ।

आपका

**अवधूत भगवान राम**

सर्वेश्वरी समूह

पड़ाव, वाराणसी

# आशीर्वचन

श्री खण्डेलवाल जी,

सदियों से भारत जगत का आध्यात्मिक गुरु रहा है। आज भी भारत से अन्य देशों में आध्यात्मिकता का प्रसार हो रहा है। भारत की आध्यात्मिकता परम्परागत है, और सदा अबाधित रही है। इस परम्परा में तंत्रशास्त्र का विशिष्ट और सर्वोच्च स्थान है, क्योंकि अध्यात्म के अंतिम लक्ष्य के स्वरूप और अनुभव का ज्ञान तथा उसको प्राप्त कराने वाले उपायों और प्रक्रियाओं की जानकारी उसमें मिलती है। आजकल देश-विदेश में भी शांति और सत्य की खोज करने वाले लोगों में तंत्रशास्त्र के प्रति रुचि बढ़ रही है, किन्तु दुर्भाग्य से इस महत्त्वपूर्ण शास्त्र को गलत समझ कर कुछ व्यक्ति गुरु बन बैठे हैं। तंत्र सिखाते हैं और तंत्र के बारे में पुस्तकें भी लिखते हैं। इससे अध्यात्म जगत् के जिज्ञासुओं की बड़ी हानि हो रही है। वे तंत्रशास्त्र के रहस्यमय यौगिक उपायों के सच्चे ज्ञान से वंचित हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में तांत्रिक शैवदर्शन की योगपद्धति के वास्तविक स्वरूप को समझाने वाले प्रामाणिक ग्रंथ का प्रकाशन अत्यावश्यक हो गया है।

इस दिशा में "तांत्रिकी" का प्रकाशन हो रहा है, यह बड़े आनन्द की बात है। महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज मेरे बड़े प्रेमी मित्र थे। वे शैवमत के सूक्ष्म विषय को जानने वाले और तंत्रशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे। उनसे तत्त्वज्ञान का कोई भी विषय छुपा हुआ नहीं था। ऐसे महापुरुष की स्मृति में तांत्रिकी का प्रकाशन हो रहा है, जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। यह प्रकाशन सफलता प्राप्त करे, इति आशीर्वाद।

**—स्वामी मुक्तानन्द**

सिद्ध योगाश्रम
साउथ फाल्सवर्ग
न्यूयार्क ( यू. एस. ए. )

## शुभाशंसा

श्री खण्डेलवाल जी,

तंत्र शास्त्र भारतीय साधना की चमत्कारिक शेवधि है। इसने युगों से विश्व को विस्मय में डाला है। अनेक तांत्रिकों ने युगों से इसके बल पर अश्रुत-पूर्व श्रोतव्य सिद्धियां पाई हैं। स्व० गोपीनाथ जी कविराज तंत्र के अद्वितीय विद्वान और मनीषी महापुरुष थे। उनकी स्मृति में "तांत्रिकी" प्रकाशन का आपका प्रयास स्तुत्य और सहयोगार्ह है। हम आपके इस अनुष्ठान के लिए शुभा-शंसा प्रहित करते हैं।

गीता प्रेस
गोरखपुर

**—सम्पादक कल्याण**

## पूर्वाभिनन्दन

प्रातः स्मरणीय महामहोपाध्याय पण्डितवर डा० गोपीनाथ जी कविराज भारतवर्ष के विश्वविख्यात् विभूति पुरुष थे। उनके गुरु महायोगी विशुद्धानंद जी महाराज के सम्बन्ध में स्वयं कविराज जी जितना कुछ लिख गये हैं, उससे अधिक जानकारी प्राप्त करना संभव नहीं है, किन्तु इतना तो उजागर है कि यह दोनों 'कहियत भिन्न न भिन्न' गुरु-शिष्य ही आधुनिक युग में तंत्र विज्ञान की नई चेतना हमें दे गये है। "तांत्रिकी" उसी नव अन्तश्चेतना की वाहिका है। पूज्य दादा सीताराम जी एवं श्री एस. एन. खण्डेलवाल के सद्प्रयत्नों से यह अन्तर्त्रिवेणी "तांत्रिकी" के रूप में चिर प्रवाहित हो रही है। मैं ग्रन्थमाला का पूर्वाभिनन्दन वन्दन करता हूँ।

चौक, लखनऊ

**—अमृत लाल नागर**

# सन्देश

तन्त्र विद्या भारत में अनादिकाल से अपना अस्तित्व रखती है। बिखरे रूप में इसे गाँवों में भी पा सकते हैं। तन्त्र विद्या के ज्ञाता और साधक समाज का हित कर सकते है।

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है कि "तांत्रिकी" का प्रथम पुष्प शीघ्र प्रकाशित हो रहा है। इसमें तन्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ उसके व्यावहारिक पक्ष पर लेखादि रहें तो इसका अधिक उपयोग हो सकेगा। इसका सुष्ठु रूप प्रकाश में आयेगा। इस दिशा में काम करने वाले विद्वानों को मेरी हार्दिक शुभ कामनायें।

**—डा० रामजी लाल सहायक**

कुलपति
रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय
बरेली

# विशेष

स्थानाभाव के कारण महामहिम राज्यपाल, उ० प्र०, हरियाणा, तथा अनेकानेक महानुभावों के शुभ कामना सन्देश नहीं छप सके। तांत्रिकी की ओर से सभी से क्षमायाचना तथा कृतज्ञता ज्ञापन किया जाता है।

**—सम्पादक**

# श्रद्धेय कविराज जी

स्व० आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी

महातंत्रयोगी श्रद्धेय महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज इस देश के मूर्धन्य विचारक और विद्वान् थे। विविध शास्त्रों की अगाध विद्वत्ता के साथ ही उनमें साधना के प्रति अविचलित निष्ठा भी थी। साधारणत: एक ही मनुष्य में विद्वत्ता और साधना, दोनों का ऐसा मणि-कांचन योग नहीं मिलता। उनके निकट थोड़ी देर बैठने से भी जिज्ञासु अपार ज्ञान-भण्डार से परिचय प्राप्त कर लेता था। एक बड़ी विशेषता उनमें यह थी कि वे सदा विभिन्न साधनाओं में समन्वय का प्रयत्न किया करते थे। किसी के प्रति उनमें रंच-मात्र भी अनादर या वितृष्णा का भाव नहीं था। उन्होंने अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलायी है।

कविराज जी की प्रतिपादन शैली की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे एक मत के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय अन्यान्य दर्शनों के समशील सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी कर जाते हैं और यह बताना नहीं भूलते कि अन्यान्य मतों मे प्रतिपादित मत का पार्थक्य किस बात में है। कभी-कभी वे पाठक को सहज ही समझा देते हैं कि दूसरे दर्शनों में अन्य नाम से प्रसिद्ध होने पर भी इन मतों के अमुक-अमुक शब्द वस्तुत: समानार्थक हैं। इससे पाठक का ज्ञान परिसर तो बढ़ता ही है, किसो परिचित शब्दावली के सहारे अपरिचित तत्व को हृदयंगम करने में उसे आसानी भी होती है। कविराज जो की यह शैली बड़ी प्रभावोत्पादक है। पाठक को इससे प्रतिपाद्य के ठीक-ठीक स्वरूप को समझने में बड़ी सुविधा होती है।

वस्तुत: कविराज जी के लिए शास्त्र करामलक की भाँति थे। एक प्रसंग को छेड़ने पर उससे संबद्ध अन्यान्य प्रसंग उपस्थित हो जाते थे। सत्य का पार-मार्थिक रूप शाक्त दृष्टि से क्या है। किस प्रकार परमशिव से इस दृष्टि का प्रसार हुआ है, अद्वैत और द्वैत तत्व के भिन्न-भिन्न रूपकों का रहस्य क्या है, भगवदनुग्रह क्या है और कैसे प्राप्त होता है, मानव-देह के शक्ति-केन्द्र षटचक्र

भेद आदि का क्या रहस्य है, सामरस्य या महामिलन क्या चीज है ? आदि अनेक रहस्यों का समाधान इनके ग्रन्थों में मिलेगा ।

कविराज जी की प्रतिपादन शैली की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे प्रतिपादन का वैशिष्ट्य स्पष्ट कर देते हैं । दूसरी बात यह है कि वे किसी साधना या मत के बारे में कोई ऐसी बात नहीं कहते जिससे पाठक के चित्त में उसके प्रति कोई वितृष्णा उत्पन्न हो सके । शाक्त दृष्टि के व्याख्याता आचार्य की यह वैष्णव-वृत्ति उनके ग्रंथों में मिलती है । वे किसी दृष्टि के प्रति अनादर का भाव व्यक्त नहीं करते, बल्कि कुछ इस प्रकार की धारणा उत्पन्न करते हैं कि एक-एक प्रकार की निश्चित रुचि और संस्कार वाले व्यक्ति के लिए निश्चित प्रकार की साधनाओं का विधान किया गया है । वे पूरी सच्चाई के साथ विश्वास करते थे कि अन्ततोगत्वा सारी साधनाएँ एक ही महासत्य की ओर साधक को ले जाती हैं ।

ऐसे महान् तत्वदर्शी क्वचित् कदाचित् ही इस मर्त्यलोक में आते हैं । उनके प्रति हम अपनी हार्दिक श्रद्धा निवेदन करते हैं तथा उनकी स्मृति में संयोजित तांत्रिक प्रकाशन कार्यक्रम के प्रति हम अपनी शुभकामना प्रकट करते हैं ।

# प्रज्ञामूर्ति कविराज जी

महर्षि महेश योगी का संदेश

यह हमारा अपना बड़ा परम सौभाग्य है कि महामहोपाध्याय गोपीनाथ जी कविराज की स्मृति में हमें सन्देश देने का सुअवसर मिला है । पं० गोपीनाथ जी कविराज की कीर्ति उनका यशोगान भारत के प्रत्येक विद्वान पण्डितों के हृदय में सदा जागृत रहेगा। उनकी प्रतिभा में दैवीशक्ति का अवतरण था । उनकी वाणी में सहज सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का प्रत्यक्ष स्पंदन था । उनकी प्रज्ञा में दैवीसत्ता एवं आध्यात्मिक सत्ता का जो सहज स्वाभाविक प्रस्फुटन था, उसने सब विद्वानों-पण्डितों को, साधकों को ऐसी प्रेरणायें दी हैं, जिसके कारण विद्या का क्षेत्र एक अनुभव को लेकर बढ़ा । आध्यात्मिक क्षेत्र वैसे तो पहले से था ही, लेकिन जब कोई प्रतिष्ठित विद्वान अनुभव के द्वारा दूसरे विद्वानों को अनुभव की ओर उन्मुख करते हैं तो यह विद्या सफल होती है ।

काशी मे भगवान विश्वनाथ की कृपा से विद्या का पठन- पाठन और उसका अनुभव सहज स्वाभाविक है । किन्तु इस भगवान विश्वनाथ की सहज स्वाभाविक स्थिति में काशी नगरी में एक-एक पीढ़ी में कोई एक-एक विद्वान हो जाते हैं, जिनके द्वारा भगवान शंकर का कार्य सम्पन्न होता है । कविराज जी ऐसी ही विभूतियों मे हैं जिनके द्वारा भगवान विश्वनाथ का यह कार्य कि जो इस नगरी में रहे वह जीवन्मुक्त रहे, वह पूर्ण ज्ञानी रहे, चलते फिरते ज्ञानी भगवान विश्वनाथ की नगरी में पाये जायें और हर पीढ़ी में ऐसा-ऐसा होता रहे। कितने वर्षो तक उनका सारा जीवन इसी का प्रतिनिधित्व करते हुए बीता है। भगवान विश्वनाथ का जो कार्य है ज्ञान के द्वारा ऋते ज्ञानान्न मुक्ति, काशी का जो सिद्धान्त है' उसके ये प्रचारक थे, उसके मूर्तिमान पुरुष थे । उनकी स्मृति में उनके भक्तों और सारे पण्डितों में (न केवल काशी के बल्कि भारत के) और अब तो स्वतन्त्रता के बाद समस्त विश्व में, इस ब्रह्म विद्या का प्रचार ज्यादा से-ज्यादा हो, यह उद्देश्य अपनाना चाहिए । उनकी प्रतिभा, उनका यशोगान, उनके आध्यात्मिक रहस्यों से सारे विश्व को अनुगत करना अपने लोगों का कर्त्तव्य है । यही तांत्रिकी का यथार्थ प्रकाशनोदेश्य हो ।

भारत से विद्या सदैव आती और जाती रही है। भारत में तो विद्या के मूर्तिमान लोग पाये जाते हैं। कविराज जी का व्यक्तित्व अत्यन्त स्तुत्य रहा है और रहेगा।

उनकी परम्परा में ज्ञानी-विद्वान होते आयेंगे। तांत्रिकी द्वारा उनकी स्मृतिमें ज्ञान और विज्ञान का समन्वय होता रहेगा। विज्ञान का समन्वय होता है अनुभव के आधार पर। शुद्ध चेतना का प्रस्फुटन ही विज्ञान का क्षेत्र है और वह यथार्थतः हो रहा है, इसकी जांच पड़ताल में विज्ञान का रहस्य है। उसकी प्राप्ति से सिलसिलेवार ढंग से उस शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो।

गीता में कहा है––

"यस्त्वयं योग संसिद्धिः कालेनात्मनि विन्दति"

उनकी परम्परा में योग सिद्ध होते रहें और उससे ज्ञान की पूर्ण यथार्थ रश्मियाँ विश्व में फैल कर विश्व को पवित्र करती रहें। अपने लोगों का यह कार्य कि––

'महाजनों येन गतः स पन्थाः' अर्थात अनुसरण। कविराजजो से शंकराचार्य की परम्परा का बड़ा सम्बन्ध रहा है।

शंकराचार्य की परम्परा ज्ञान की परम्परा है। वह सर्वदर्शन की परम्परा है। वह इतनो पूर्ण है जिसका कोई अन्त नहीं। ऐसी पूर्ण परम्परा में पले हुए अपने लोग पूर्वजों की यशोकीर्ति करते रहेंगे, उनकी जय बोलते रहेंगे और सब को भी प्रकाशित करते रहेंगे।

––––––

# कविराज खण्ड

लेखक

पद्म विभूषण महामहोपाध्याय डा० पं० गोपीनाथ कविराज
एम. ए., डी० लिट्

अनुवादक

एस० एन० खण्डेलवाल

# विषयानुक्रमणिका


१. काल एवं क्षण
२. कालराज्य का विस्तार एवं संकोच
३. आवर्तन एवं महाकाल
४. काल एवं महाकाल का तात्पर्य
५. तांत्रिक दृष्टि
६. त्रिकाल
७. क्षण रहस्य
८. नाभिचक्र का जागरण
९. मातृऋण शोधन
१०. गुरु-इष्ट, लक्ष्य एवं कर्म
११. गुरुराज्य
१२. ज्ञानगंज
१३. बोध का उदय
१४. गुरुराज्य एवं ज्ञानगंज
१५. मातृसेवा
१६. कृपा एवं कर्म
१७. लक्ष्य एवं कर्म
१८. ज्ञानगंज
१९. पथ
२०. गति
२१. समापन
२२. योगनिद्रा स्थित जीवगण
२३. महाप्रलय
२४. साधक की स्थिति
२५. साधन संकेत
२६. चिद्राज्य विस्तार
२७. साधक भेद
२८. महायोग की सूचना

## काल एवं क्षण

( तांत्रिक दृष्टिकोणानुसार )

सब कालराज्य में अवस्थान करते हैं। काल का धर्म है परिणाम। प्राकृतिक वस्तु-समूह कालराज्य में अवस्थित है और परिणामशील है। परिणाम-क्रम में अतीत, अनागत एवं वर्तमान, तीन प्रकार के भेदों की गणना की जाती है। अतीत से चलती सृष्टि की धारा वर्तमान का भेद करते हुये अनागत की ओर प्रवहमान है, अथवा अनागत से बहती सृष्टि की धारा वर्तमान का भेद करते हुये अतीत की ओर प्रवाहित है। यह प्रवाह है काल परिणाम-सूचक। काल का अर्थ यहाँ खण्ड-काल जानना चाहिये। आगमशास्त्र के अनुसार खण्डकाल के ऊर्ध्व में महाकाल अवस्थित हैं, किन्तु उसमें परिणाम धर्म का सर्वथा अभाव है। महाकाल समग्र विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में अक्षत भाव से विद्यमान है। जिन्होंने सांख्य-योगशास्त्र धारा को पर्यालोचना की है, वे जानते हैं कि परिणाम प्रकृति का धर्म है। परिणाम के साथ काल का नित्य-सम्बन्ध हैं।

परिणाम के दो भेद हैं। सदृश परिणाम एवं विसदृश परिणाम। प्रकृति महाप्रलय के समय सदृश परिणाम युक्त रहती है और सृष्टि के समय विसदृश परिणाम युक्त। सदृश परिणाम में प्राकृतिक उपादानों का कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति के उपादान हैं—सत्व, रज, तम। सत्व सत्वरूप में, रज रजरूप में, और तम तमोरूप में स्पन्दित होता है। इसका नाम है, सदृश परिणाम। इस परिणाम में तीनों गुणों का मिश्रण नहीं होता। तीनों अपने अपने रूप में परिणत हो जाते हैं, किन्तु विसदृश परिणाम में तीनों गुणों का परस्पर मिश्रण होता हैं और वैषम्य उत्पन्न होता है। इस मिश्रण के फलस्वरूप कोई सत्वप्रधान और कोई तमः प्रधान होते हैं। तीनों गुणों का यह मिश्रण गुणगत तारतम्य से होता है। किम्बहुना, सृष्टि के उदयकाल से ही कालक्रीड़ा चल रही है। संहार

अवस्था में ( अर्थात् सृष्टि की लयावस्था में ) सदृश परिणाम रहता है। यह है प्रकृति की साम्यावस्था। सृष्टि अवस्था में वैषम्य है। प्रकृति में गुणगत वैषम्य के कारण वस्तु की सृष्टि होती है।

प्रत्येक वस्तु प्रकृति का धर्म है। प्रकृति है धर्मी। यह वैषम्यरूप परिणाम तीन प्रकार के हैं--धर्मगत, लक्षणगत, अवस्थागत। एक ही प्रकृति विभिन्न धर्मरूप में परिणत होती है (अर्थात् विभिन्न वस्तुरूप में परिणत होती है)। वस्तु में लक्षणगत परिणाम के फलस्वरूप परिवर्तन होता है। यह है कालगत परिणाम का उद्भव। अनागत लक्षण से वस्तु वर्तमान लक्षण में उपनीत होती है, और वर्तमान से अतीत अवस्था को प्राप्त होती है। शास्त्रों में इसे त्रिकाल परिणाम कहते हैं। इन तीन परिणामों में अतीत और अनागत के अन्तराल में विद्यमान वर्तमान के दो रूप हैं। प्रथम व्यापक, द्वितीय क्षणिक। प्रथम अधिक समय तक आत्मप्रकाश करता है, किन्तु क्षणिक परिणाम मात्र क्षणकाल पर्यन्त स्थायी रहता है। इस क्षणिक परिणाम को कहते हैं अवस्था परिणाम। कालराज्य में इस प्रकार का परिणाम नित्य घटित हो रहा है। इसके कारण सृष्टिधारा में एक क्रम परिलक्षित होता है। इसे पौर्वापर्य कहते हैं। काल का यह पौर्वापर्य सर्वत्र वर्तमान है। यह क्रम-काल का धर्म है। काल में जो कुछ दीखता है, सभी में यह क्रम अवश्यम्भावी रूप से विद्यमान है। क्षण में कोई परिणाम नहीं है। काल क्रममय है, अतः क्रम से विकास होता है। जिसे हम क्रम-विकास कहते हैं, वह है काल का व्यापार मात्र। काल का आश्रयण करके ही क्रम-विकास सम्भव होता है। क्षण एक और अखण्ड है। स्पन्दनवशात् उसमें क्रम प्रतीयमान होता है। यह प्रतीयमान क्रम काल रूप से आत्मप्रकाश करता है। क्षण है, मात्र एक और अद्वितीय। यह एक क्षण ही समस्त विश्व को प्रकाशित कर रहा है। कालस्थित जीव मन एवं इन्द्रियों द्वारा क्षण को पकड़ नहीं सकता। जब तक कालातिक्रमण नहीं होगा, तब तक क्षण का सन्धान असम्भव है। योगभाष्यकार व्यासदेव कहते हैं "एक एव क्षणः तस्मिन् एकस्मिन् एव क्षणे सर्वं जगत् परिणामं अनुभवति" एकमात्र क्षण है। उसी एक क्षण में समग्र विश्व का परिणाम संघटित हो रहा है। क्षण ज्ञान है–अति कठिन एवं दुर्लभ। जीवगण एवं उनके इन्द्रियादि काल के अधीन हैं। मन भी काल के अधीन है, अतएव वह क्षण को ग्रहण नहीं कर सकता। जिसे हम लोग क्रम-विकास ( evolution ) कहते हैं, वह काल का ही धर्म है। जब क्रम-विकास समाप्त

होगा, तभी क्षण आत्मप्रकाश करेगा। क्रम समाप्त न होने तक क्षण प्राप्ति असम्भव है। इसी प्रसंग में योगीगण की उक्ति याद रखनी चाहिए। वह उक्ति है "गुणानां परिणाम क्रमसमाप्ति"। गुणों की परिणामगत क्रम समाप्ति अपेक्षित है। खण्ड-दृष्टि से देखने पर उपलब्धि होगी कि "गुणों के परिणाम की क्रम-समाप्ति ही पूर्णता है"। परिणामक्रम की समाप्ति से प्रकाश का (क्षण का) उदय सम्भव है। प्रकाश में न तो परिणाम है और न क्रम की ही कोई स्थिति है। अतः विकास पूर्ण होने पर प्रकाश (क्षण) का साक्षात्कार सम्भव होगा (विकास अर्थात् काल)।

विकास (काल) के मूल में बीज अवस्थित है। बीज का वपन क्षेत्र (खेत) में होता है, और नाना प्रकार के परिकर्म द्वारा उसकी अभिव्यक्ति पुष्ट होती है। भूमि का जल द्वारा सिंचन, सूर्यकिरण, वायुस्पर्श इत्यादि सहकारी कारण-वर्ग द्वारा भूगर्भस्थ बीज अंकुरित होकर विकसित होता है। बीज-वपन का उद्देश्य है—वृक्ष की उत्पत्ति एवं फलों का आविर्भाव। सारी अवस्थायें क्रम-विकास से आभूत हैं। वपन-काल में यह देखना होगा कि बीज वीर्यहीन न हो और मृत्तिका भी उर्वर हो। तत्पश्चात् परिकर्म रूप सहकारी कारण वर्ग भी प्रयोजनानुसार सहायक होना चाहिये, तत्पश्चात् काल अर्थात् ऋतुकाल भी विवेच्य है। इन सब कारण अधिकरण की सम्यक् समष्टि के सम्यक् सम्मिलन द्वारा बीज से वृक्ष और वृक्ष से फल प्रसवित होता है। फल की भी विभिन्न अवस्थायें हैं। अपक्व अवस्था से सुपक्व अवस्था तक का इनका क्रम है।

यहाँ क्रम का अवलम्बन लेकर गुप्त भाव से विकास होता रहता है। मात्र मृत्तिका के नीचे ही गुप्त भाव से क्रम का विकास नहीं होता, अपितु वृक्ष भाव में परिणत होने में भी क्रम का गुप्त भाव निहित है। बीज का लक्ष्य है फल। वह गुप्तरूप से पुष्पादि में निहित रहता है। जब फल का आत्मप्रकाश होता है और फल परिपक्वता प्राप्त करेगा तभी बीज का पूर्ण आत्मप्रकाश घटित होगा। प्रकृति के राज्य में विकास से प्रकाश होता है। प्रकाशरूपी लक्ष्य है—विकास की सार्थकता। यह विकास है काल। यही है जगत का धर्म। विकास का उद्देश्य है प्रकाश को प्राप्त करना। किन्तु प्रकाश है कालातीत। यह याद रखना होगा कि विकास के बिना भी प्रकाश है किन्तु वह प्रकाश कालातीत जगत् का खेल है। काल-जगत् मे एवं प्रकृति के जगत में विकास का अवलम्बन

लेकर ही प्रकाश की उपलब्धि होती है, यद्यपि प्रकाश नित्यसिद्ध है। परमेश्वरानुग्रह से कालातीत क्षण का अनुभव करने पर ज्ञात होगा कि अनन्त प्रकाश वहीं स्थित है। वह है विकासनिरपेक्ष, स्वतंत्र प्रकाश।

सद्गुरुगण जिस मंत्र का दान करते हैं वह होता है बीज रूप। उसका वपन किया जाता है, शिष्य के हृदय-क्षेत्र में। इसमें बीजशक्ति रूपी वीर्य अवस्थित है। वह धीरे-धीरे शिष्य के परिकर्म द्वारा विकसित होता है। सुदीर्घ काल में, अथवा अल्पसमय में, जैसे भी हो, विकास की पूर्णता आवश्यक है। विकास पूर्ण होते-होते वह इष्टदेवता रूप में अभिव्यक्त होता है। इसका तात्पर्य है बीज की फलरूप में अभिव्यक्ति। काल के जगत् से होकर ही कालातीत स्थिति होती है। कालजगत् में बीज के बिना प्रकाश नहीं होता। प्रकाश स्वभावसिद्ध है, अतः वह बीज सापेक्ष नहीं होता। कालातीत महासत्ता में निर्बीज प्रकाश अखण्ड भाव से विद्यमान रहता है। काल-राज्य में प्रकाश की अभिव्यक्ति होती है--बीज का अवलम्ब लेकर और क्रम-विकास द्वारा। जब कालातीत सत्ता अपनी स्वातंत्र्यवशात् आत्मप्रकाश करती है, तब बीज अपेक्षित नहीं होता। एक दिशा और है, जिसकी आलोचना करता हूँ। बीज से जैसे फल उत्पन्न होता है, वैसे ही पुनर्वार फल से बीज की उत्पत्ति होती है। यदि फल से बीज नहीं होता, तब विश्वकल्याण कैसे सम्भव होता? फिर भी ऐसे बीज की भी अवस्थिति है जिससे पुनः फल आविर्भूत नहीं होता। साथ-साथ ऐसे फल की भी स्थिति है ( अर्थात् प्रकाश है ) जिससे पुनर्वार बीज आविर्भूत नहीं होता। अध्यात्म-विज्ञान का अनुशीलन करने पर उपलब्धि होती है कि साधारण दृष्टि से सिद्ध पुरुष तीन प्रकार के हैं। प्रथम है जिन्हें साधना द्वारा सिद्धिलाभ हुआ है। इन्हें साधन-सिद्ध कहा जाता है। उपर्युक्त विकास और प्रकाश सम्बन्धी अवस्था है साधनसिद्ध अवस्था। साधना द्वारा विकास पूर्ण होता है और विकास पूर्ण होने पर प्रकाश रूप सिद्धावस्था का उदय होता है। जैसे साधन द्वारा सिद्धि लाभ होता है वैसे ही कृपा से भी सिद्धि की प्राप्ति होती है।

साधना-सिद्ध एवं कृपा-सिद्ध दोनों प्रकार के साधक विकासक्रम द्वारा प्रकाश ( क्षण ) की प्राप्ति करते हैं। साधनसिद्ध पुरुष अपने व्यक्तिगत पुरुषाकार द्वारा क्रमशः विकास ( कालातीत अवस्था ) प्राप्त करते हैं। इस विकास में किंचित परिणाम में भगवत्कृपा विद्यमान रहती है। इस मार्ग में कृपा गौण है और पुरुषकार प्रधान है। पक्षान्तर से जो साधक कृपा के प्रभाव से जगत् का भेद कर

सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं, उनमें कृपा प्रधान है (यद्यपि कींचित् परिणाम में पुरुषाकार भी अवस्थित है) जैसे पक्षी एक पंख द्वारा आकाश में नहीं उड़ सकता, वैसे ही कोई भी कर्म मात्र पुरुषाकार द्वारा नहीं होता, या मात्र कृपा द्वारा भी नहीं होता। यद्यपि नामकरण होता है प्राधान्य के अनुसार, तथापि गौण भाव से द्वितीय की स्थिति रह ही जाती है। अतएव साधनसिद्ध एवं कृपासिद्ध दोनों में उभयभाव अवश्यमेव विद्यमान है।

दोनों प्रकार के साधक विकास-मार्ग का अवलम्ब लेकर क्रम अतिवाहित करते हैं। यह सत्य है कि कृपामार्ग के साधक के लिये यह अतिसामान्य हो जाता है। अवस्था विशेष में क्रम तिरोहित भी हो जाता है। इस प्रकार से दो प्रकार के सिद्ध पुरुषों का वर्णन किया गया। ये दोनों कालराज्य में वास करते हैं एवं सिद्धि-प्राप्ति के अनन्तर कालातीत में वास करते हैं।

तृतीय प्रकार के सिद्ध पुरुष ऐसे होते हैं जिन्होंने काल का अतिक्रमण नहीं किया है, एवं कृपा-लाभ भी नहीं किया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के (अर्थात् पुरुषाकार द्वारा साधन-सिद्धि एवं कृपा-सिद्ध) सिद्धगण सादिसिद्ध हैं और यहाँ जिनका वर्णन किया जा रहा है वे हैं अनादिसिद्ध। ये कभी भी असिद्ध नहीं थे। सृष्टि के साथ-साथ इनका सिद्ध रूप में आविर्भाव हुआ था। इनके मूल में न तो कृपा है और न साधना। अतः ये हैं नित्यसिद्ध। हमारे प्राचीन अध्यात्म-साहित्य में इन्हें दिव्यसूरि अथवा सूरि कहा जाता है। वेद ने इन सब सूरियों को इंगित करते हुये कहा है—

"तद् विष्णोः परमं पदम्, सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्"

अर्थात् विष्णु का जो परमपद है, जिसे परव्योम कहा जाता है, वही है श्री भगवान् का परमस्वरूप। ये समस्त सूरी या नित्यमुक्त ज्ञानीभक्त निरन्तर दर्शन प्राप्त करते रहते हैं। इन्हें अनादिसिद्ध या अनादिमुक्त कहा जाता है। इसाई धर्म में भी यह स्तर देखा जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि कालराज्य एवं कालातीत राज्य, कोई भी शून्य नहीं है। काल राज्य से परम ज्ञान एवं भक्ति के प्रभाववश कालातीत राज्य में संचरण होता है। कालातीत राज्य में अनादिकाल से बहुसंख्यक सत्ता विद्यमान

है। क्षण ( प्रकाश ) एवं काल ( विकास ) के रहस्य की आलोचना करते समय यह स्मरण रखना होगा कि विकासहीन प्रकाश की स्थिति है एवं वह नित्य वर्तमान रूप है। नित्यधाम में साकार रूप की स्थिति का अनुभव करते हुये यह कहना सत्य है कि नित्य साकार मूर्ति क्रमहीन है। वह विकासहीन (कालरहित) एवं (क्षण) प्रकाश स्वरूप है। वहाँ कोई दिव्य रूप है नित्य बाल मूर्ति में, कोई नित्यकिशोर और कोई है नित्य यौवन युक्त। यह समस्त बाल्य-यौवनादि अवस्था काल के अन्तर्गत नहीं है। यह दो प्रकार की है--अनादि एवं सादि परन्तु दोनों हैं क्रम विवर्जित। जहाँ अनादि कैशोर या अनादि यौवन है वहाँ भी पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा नहीं है। काल प्रत्येक अवस्था में क्रमसिद्ध है, किन्तु कालातीत नित्यसिद्ध रूप है। वहाँ जो बालक है वह सर्वदा बालक ही है। जो युवक है वह सर्वदा युवक है। वहाँ पूर्वापर भेद नहीं है। कालातीत होने के कारण वहाँ कालक्रम कार्य नहीं करता। एक और रहस्य उल्लेखनीय है। मनुष्य काल-राज्य में साधना करते-करते जिस अवस्था में प्रकृत-सिद्धि प्राप्त करता है एवं कालातीत में स्थित होता है, ऐसी स्थिति में वही अवस्था स्थायी हो जाती हैं। अर्थात् यदि एक ने ३० वर्ष की अवस्था में सिद्धि-लाभ किया एवं सिद्धिलाभ के उपरान्त वे यदि वृद्धावस्था तक भी जीवित रहें हों, तब भी नित्यावस्था में उनका ३० वर्ष का रूप ही स्थिर होकर रह जायेगा।

## कालराज्य का विस्तार एवं संकोच

कालराज्य मृत्यु राज्य है। जहाँ तक काल का विस्तार है वहाँ तक मृत्यु विद्यमान है। काल का मुख्य कार्य है "कलन"। अतः काल-राज्य में सर्वत्र सर्वदा परिणाम की क्रिया चल रही है। यहाँ क्रम है, पूर्वापर विभाग है और तदनुरूप वैचित्र्य है। पृथ्वी आदि पर ६ भावविकार मिलते हैं। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते एवं नश्यते। ये षट् विकार कालगत परिणाम के ६ रूप हैं। देवलोकों में साधारणतया तीन अवस्थान्तर्गत परिणाम कार्य करता

है, आविर्भाव, स्थिति एवं तिरोभाव। वहाँ भी परिणाम सूक्ष्मरूप से है। इस कारण से कालराज्य सर्वतः क्षरणशील होता है। यह खण्डकाल का रहस्य है। यहाँ अतीत, वर्तमान एवं अनागत का भेद विद्यमान है। महाकाल में ये भेद नहीं रहते। वहां सब नित्यवर्तमान रूप से ओतप्रोत रहते हैं। जैसे समग्र विश्व भगवान के अभेद रूप में एक अहं रूप से स्थित है, वैसे ही महाकाल रूपा महासृष्टि में समग्र विश्व भगवान में, नित्य वर्तमान इदंरूपेण भासित होता है। महाकाल राज्य में समग्र विश्व विद्यमान रहता है, नित्य स्रष्टा भगवान के नित्य दृश्य रुप में। वहां काल के परिणामस्वरूप की क्रीड़ा नहीं रहती। खण्डकाल में अवस्थित है अनन्त असीम मृत्युराज्य। फिर भी समस्त मृत्युराज्य एक प्रकार के नहीं हैं। पृथ्वी में सर्वत्र भोग स्थान है। कर्मभूमि है एक मात्र भारतवर्ष। यहाँ कर्म फल की उत्पत्ति एवं भोग दोनो होता है, जब कि अन्यत्र केवल भोग होता है। सर्वत्र अभिनव कर्म का जन्म नहीं होता। काल संकर्षण क्रिया के फलस्वरूप असंख्य काल राज्यों में प्रलय होता है और समग्र विश्व अखण्डभावेन महाकाल में अधिष्ठित, परिणामहीन और उदयास्तविहीन होकर परमात्मा के नित्यदृश्य रूप में परिणत होता है।

विश्व में दो विपरीत शक्ति कार्य कर रही है। एक है भगवत्-शक्ति या अनुग्रह-शक्ति। दूसरी है काल-शक्ति या तिरोधान-शक्ति। पूर्ण परमतत्व में ये दोनों शक्तियाँ परस्पर भेद रहित, अभिन्न रूप से, स्वतन्त्र स्वरूप की संज्ञा से कार्य करती हैं। जब परमेश्वर आत्मसंकोच करके जीवरूप में आत्मप्रकाश करते है, तब शक्ति की ये दोनों धाराएँ पृथक हो जाती हैं। एक शक्ति जीवभाव या पशुभाव की पुष्टि करती है एवं द्वितीय शक्ति पशुभाव को निवृत्त कर परमस्वरूप में प्रत्यावर्त्तन करती है। अनुग्रह-शक्ति आत्मा को परमस्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित करती है। कालशक्ति निरन्तर बहिर्मुख प्रेरणा द्वारा जीव को संसार से जड़ित रखती है। जो शक्ति क्रमशः काल को स्वाधिकार से (कलनात्मिकता से) अपसारित करती है, उसी का नाम है काल-संकर्षण शक्ति। काल का धर्म है क्रम। कालराज्य में क्रम का सहारा लेकर चलना पड़ता है। कालसंकर्षण का चरम लक्ष्य है क्रम का अतिक्रमण कर क्रम स्वरूप में आत्मप्रकाश। काल संकर्षण के फलस्वरूप काल से क्रमशः हटकर जाते हुए क्षण की प्राप्ति होती है। वहाँ निरन्तर परिणाम हो रहा है। इस परिणाम में मात्रागत तारतम्य है। भगवत् कृपा के प्रभाववश यह मात्रागत तारतम्य क्रमशः स्थूलावस्था से सूक्ष्मावस्था में

परिणत होता है। जितनी अधिक चैतन्य की अभिव्यक्ति होगी, काल की मात्रा उतनी ही क्षीण होती जायगी। फलस्वरूप चैतन्यरूप में कालगत मात्रा का किंचित प्रभाव भी नहीं रह जाता। वहाँ एक ही क्षण अनादि अनन्त, प्रकाशरूप हो विद्यमान है। जब आवरण क्रमशून्य भाव से अपगत होता है, तब एक मात्र क्षण ही विराजित रहता है। अतः महाजनगण कहते हैं कि "एक ही क्षण समग्र विश्व में परिणामों का संघटन कर रहा है"। कालराज्य में विभिन्न स्तर हैं। प्रत्येक स्तर में कालगति की मात्रा में तारतम्य है। यह तारतम्य कालवेग की न्यूनता अथवा कालवेग की गतिमयता पर निर्भर करता है। जहाँ अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से काल की मात्रा क्षीण हो जाती है, वहाँ कालसन्धि प्रकाशित होती है और क्षण का प्रकाश सहजता से अनुभूत होता है। जब क्षण स्थायीरूपेण प्रतिष्ठित होता है, तब वहाँ काल का लेशमात्र भी नहीं रह जाता। यह अवस्था काल संकर्षिणी अवस्था है। क्रमहीन काल का नाम क्षण है। क्षण है नित्य एवं स्वप्रकाशमय। अनन्तकाल कहने से जो ज्ञातव्य होता है, वह एक दृष्टि से क्षण ही है, अन्य कुछ नहीं। काल-निवृत्ति के साथ-साथ अखण्ड स्वप्रकाशमय पूर्ण आत्मतत्व प्रकट हो उठता है निष्फल स्वातन्त्र्ययुक्त प्रकाशरूप से।

काल के साथ देशज्ञान नित्य संश्लिष्ट है। अतः कालनिवृत्ति के साथ ही देश निवृत्ति हो जाती है। उस समय आत्मा देशकालातीत रहती है। इस अवस्था में निजसंकल्पानुरूप कोई भी देश या कोई भी काल आत्मा के निकट प्रकाशित हो जाता है। इस प्रकार योगी का नित्यत्व एवं व्यापकत्व प्रकट हो उठता है।

## आवर्तन एवं महाकाल

काल की गति आवर्तनशील है। इस आवर्त में समग्रविश्व अपनी अपनी मात्रा के अनुसार आवर्तित होता रहता है। काल की सरलगति भी है। इसमें काल आत्मप्रकाश करता है महाकाल रूप से। मायाराज्य पार होते ही काल की वक्रगति से छुटकारा मिलता है। उसके पश्चात् सरल गति प्रारम्भ होती है।

काल की सरलगति का अवलम्ब लेकर केन्द्र स्थान में कालगति को स्थिर किया जाता है। स्थिर काल ही महाकाल रूप में परिणति प्राप्तकर परमपुरुष रूप में आत्मप्रकाश करता है। सर्वदेश एवं सर्वकाल एक महाबिन्दु के मध्य प्रकाशमान होते हैं। अर्थात् तब योगी की इच्छा के साथ-साथ तद्वत् देश एवं काल प्रकाशित होता है। व्यवधान अथवा दूरत्व नहीं रह जाता।

आचार्य भर्तृहरि कहते हैं :—

आविर्भूत प्रकाशानामनुपद्रुत चेतसाम्
अतीतानागतं ज्ञानम् प्रत्यक्षान्न विशेष्यते।

महाप्रकाश का आविर्भाव होने पर किसी प्रकार के आवरण अपनी क्रिया नहीं कर सकते। आवरण तमोगुण का कार्य है। आलोक के आगमन से जैसे अन्धकार चला जाता है, यह भी ठीक उसी प्रकार की स्थिति है। चित्त की चंचलता सम्भूत होती है रजोगुण से। महाप्रकाश के उदय से रजोगुण भी अपसृत हो जाता है। चित्त में चांचल्य का लेशमात्र भी नहीं रह जाता। चांचल्यशून्य चित्त में निरावरण प्रकाश आविर्भूत होता है। तब सब कुछ नित्य-वर्तमान रूप से उपलब्ध होता है। यद्यपि यह बात अवश्य है कि यह उपलब्धि 'अहं' रूप में न होकर 'इदं' रूप में होती है। इस समय जो अवस्था अभिव्यक्त होती है, वह महासृष्टि के भी अतीत की स्थिति है। इसे शास्त्रों में पूर्णाहन्ता कहा जाता है।

## काल एवं महाकाल का तात्पर्य

काल एवं महाकाल स्वरूपतः एक हैं फिर भी दोनों में पार्थक्य है। जगत् परिणाम के मूल में कालशक्ति क्रियारत है। प्रकृति परिणामशीला है अतः सृष्टि की धारा द्वारा नियंत्रित है। पातंजल दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि प्रकृति परिणामिनी है। परिणाम दो प्रकार के हैं सदृश एवं विसदृश। गुणत्रय की

साम्यावस्था प्रकृति का निजस्वरूप है। वैषम्य से सृष्टि का उदय होता है। लय के समय तीनों गुण अपने-अपने रूप में लीन होकर सदृश परिणाम को प्राप्त होते हैं। प्रकृति का परिणाम स्वभावसिद्ध है तथापि गुणों का पाककर्म काल-सापेक्ष है। गुणपाक के अभाव में विसदृश परिणाम अथवा तत्त्वान्तर परिणाम घटित नहीं होता। यदि तत्त्वान्तर परिणाम की संभावना नहीं हो, वैसी स्थिति में सृष्टि का उदय असम्भव होगा। सृष्टि के मूल में कर्म-संस्कार अवश्य है तथापि अपक्व संस्कार से सृष्टि नहीं हो सकती। इसके लिये काल अपेक्षित है। महाभारत में उक्ति है "कालः पचति भूतानि"।

तत्त्वान्तर परिणाम तीन प्रकार के हैं–धर्म, लक्षण एवं अवस्था। प्रकृति है धर्मी। वह जब धर्म रूप में परिणत होती है, तब यह होता है प्रथम परिणाम। तत्पश्चात् काल रूपी लक्षण परिणाम आ जाता है। इसके तीन लक्षण हैं–अतीत, अनागत एवं वर्तमान। इसे त्रिकाल कहा जाता है। इस प्रकार धर्म सर्वप्रथम लक्षण परिणाम में प्रवेश करता है। तत्पश्चात् अनागत धर्म प्रवेश करता है वर्तमान रूप की परिणति में। यह परिणति होती है करण व्यापार द्वारा। अकृत्रिम रूप में इसे स्वभाव कहते हैं। अनागत अवस्था में जो सत्ता वर्तमान रहती है वर्तमान अवस्था में वही सत्ता रह जाती है। तथापि यह सत्ता अनागत अवस्था में अव्यक्त रहती है। कारणादि अभिव्यंजक द्वारा अभिव्यंजित होने पर वह वर्तमान रूप में स्थितिलाभ करती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कारण व्यापार अनागत सत्ता को अभिव्यक्त कर वर्तमान रूप में परिणति प्राप्त अवश्य करता है किन्तु वह मात्र धर्मसत्ता को अव्यक्त अवस्था से व्यक्त नहीं कर पाता। धर्म परिणामकाल में जब तक काल से युक्त नहीं होगा, तब तक वह अनागत लक्षण परिणामरूप नहीं हो सकता। लक्षण परिणामावधि वस्तु की व्यापक सत्ता है। वह परिणामशीला होने पर भी जब तक अव्यक्त है, तब तक उसमें क्षणिक परिणाम का उदय नहीं होता। वर्तमान लक्षण में प्रतिक्षण परिणाम संभव होता है। यह है अवस्थापरिणाम। अतीत लक्षण में क्षणिक परिणाम का सन्धान नहीं मिलता। कालक्रम का अवलम्ब लेकर परिणाम अपना कार्य सम्पादित करता है। इस क्रम के द्वारा पूर्वापर का ज्ञान घटित होता है। वास्तव में यह क्रम क्षणक्रम ही है। योगी के अतिरिक्त इसे कोई समझ नहीं सकता। योगज दृष्टि से काल है बौद्धपदार्थ। बुद्धि के बाहर काल नहीं है, वहाँ क्रम है। क्षण क्रम के अनुसार काल में परिणाम व्याप्त होता है। क्षण और उसके ऊपर योगीगण

विवेकज ज्ञान प्राप्त करते हैं। विवेकज ज्ञान विवेकज्ञान नहीं है। यह है अनौपदेशिक प्रातिभज्ञान। इस प्रातिभज्ञान का उदय होने पर त्रिकाल का पूर्ण ज्ञान प्रकाश पाता है, जिसमें कोई क्रम नहीं है। यह शब्दजनित ज्ञान नहीं है। अतः इसमें क्रम का प्रश्न नहीं उठता।

## तांत्रिक दृष्टि

तांत्रिक दृष्टि के अनुसार काल एवं महाकाल में पार्थक्य है। पूर्णत्व के मार्ग में आरोहण करने पर कालराज्य का भेद करके महाकालराज्य में प्रवेश होता है। तत्पश्चात् महाकाल का भेद करके पूर्ण अखण्डराज्य में प्रवेश प्राप्त होगा। जिसप्रकार महाप्रलय का विवरण सुना जाता है, उसी प्रकार महासृष्टि का भी विवरण शास्त्रों में उपलब्ध है। महासृष्टि में अतीत अनागत एवं वर्तमान संक्रान्त कोई भी भेद नहीं है। अनन्त सृष्टि की समग्र सत्ता वहां प्रकाशित है नित्यवर्तमान रूप से। वहाँ अनन्तसृष्टि इदम् रूप से प्रकाशमान है, अहम् रूप से नहीं। साधक, वहाँ कुछ भी चाहे प्राप्त कर सकता है। वहाँ अभाव का लेशमात्र नहीं है। वहाँ अतीत भी वर्तमान रूप है। अनागत एवं वर्तमान भी वर्तमान रूप से स्थित है। हमारा यह विश्व अवस्थित है काल राज्य में। जिसे ब्रह्माण्ड कहा जाता है वह काल के अधीन है, क्योंकि वहाँ सृष्टि, स्थिति एवं संहार है। इनकी संख्या अनन्त है। ब्रह्माण्ड की समष्टि से प्रकृत्यण्ड की सृष्टि हुई है। प्रकृत्यण्ड असंख्य हैं। वहाँ भी सृष्टि, स्थिति एवं संहार है। समस्त प्रकृत्यण्ड की सृष्टि की समष्टि मायाण्ड है। समस्त मायाण्ड असंख्य एवं एक प्रकार के हैं। यहाँ भी सृष्टि, स्थिति एवं संहार की क्रीड़ा विद्यमान है। मायाण्ड के ऊर्ध्व में शाक्त्यण्ड की स्थिति है। वहाँ कालगति अन्य प्रकार की है। वहाँ निम्नस्तर की भाँति सृष्टि, स्थिति एवं संहार नहीं है, तथापि एक प्रकार से है भी।

काल की आलोचना करने पर सृष्टि और संहार की प्रासंगिक आलोचना आवश्यक है। सर्वप्रथम संहार का वर्णन करता हूँ, क्योंकि संहार के पश्चात् ही

सृष्टि का उन्मेष बुद्धिगत होता है। प्राचीन आचार्यगण प्रलय को चार भागों में विभक्त करते हैं। यह आपेक्षिक भाव है। प्रथम है नित्य प्रलय, द्वितीय नैमित्तिक, तृतीय प्राकृतिक एवं चतुर्थ है आत्यंतिक प्रलय अथवा मोक्ष। नित्य प्रलय सर्वदा एवं सर्वत्र सूक्ष्म भावेन हो रहा है। निद्रा की अवस्था भी एक प्रकार का प्रलय है। समग्र जगत् में निरन्तर इस प्रकार का प्रलय घटित हो रहा है। नित्य प्रलय जगत् की विनश्वरता का प्रमाण रूप है। इस ब्रह्माण्ड के अधिपति का नाम है ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ। श्रुति के अनुसार इनकी आयु है सौ दिव्य वर्ष। जिसे हम ब्रह्माण्ड मानते हैं वह इन्हीं की देह है। आयु समाप्ति के साथ ब्रह्मा की देह समाप्त हो जाती है। इसे ही महाप्रलय कहते हैं। महाप्रलय के अनन्तर ब्रह्मा जीवन्मुक्त स्थिति में अवस्थान करते है। परब्रह्म के साथ तादात्म्य लाभ करते हैं। वे समस्त ब्रह्मलोकवासियों के साथ ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। महाप्रलय के पश्चात् अभिनव सृष्टि में एक अन्य ब्रह्मा कारण बनते हैं। यह अनादिकाल से होता आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। ब्रह्माण्ड का यह ध्वंस प्राकृतिक प्रलय है। प्रचलित भाव में यही है महाप्रलय। प्राचीन जगत् का अवसान होकर नवीन जगत् का अभ्युत्थान इसी प्रकार होता है। ब्रह्मा का एक दिन समाप्त होने पर जो प्रलय होता है, वह है नैमित्तिक प्रलय। यह आंशिक एवं पूर्ण दो प्रकार भेद से होता है। आचार्यगण कहते हैं कि एक-एक मन्वंतर के पश्चात् आंशिक प्रलय होता है। ब्रह्मा का एक दिन ही कल्प है। कल्पावसान में जो प्रलय घटित होता है, वह है कल्प प्रलय। एक कल्प अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनुओं का आविर्भाव तिरोभाव हो जाता है। एक-एक मनु के तिरोभाव से एक-एक प्रलयावस्था का उदय होता है। मन्वन्तर प्रलय आंशिक प्रलय है और कल्प प्रलय व्यापक। दिनान्तर में जब ब्रह्मा सुप्त हो जाते हैं तब समस्त जगत् सुप्तावस्था में निमग्न रहता है। इस समय भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक दग्ध हो जाते हैं। महर्लोक के ऋषिगण ताप से तापित होकर जनलोक में गमन करते हैं। तत्पश्चात् त्रिलोकी जलमग्न हो जाता है। उस समय ब्रह्माण्ड की प्राणशक्ति का आकर्षण कर भगवान् विष्णु शेषशैय्या पर शयन करते हैं। यही है उनकी योगनिद्रा।

नित्य प्रलय एवं आत्यन्तिक प्रलय संश्लिष्ट है पिण्ड से, कन्तु नैमिन्तिक प्रलय एवं महाप्रलय का सम्बन्ध है ब्रह्माण्ड से।

## त्रिकाल

काल के तीन भाग हैं। अतीत, अनागत एवं वर्तमान। .अतीत का प्रारम्भ अज्ञात है। वर्तमान हम देखते हैं। इसी प्रकार भविष्यत् का शेष अज्ञात है, किन्तु उसके वर्तमान में हमारी स्थिति है। यह वर्तमान क्या है ? जैसे पेड़ का एक पत्ता मिट्टी पर गिर रहा है। पत्ते का पेड़ से अलग होना एक बिन्दु है और मिट्टी पर पड़ना दूसरा बिन्दु। लेकिन पत्ते का पेड़ से अलग होने से लेकर मिट्टी तक गिरना वर्तमान के ही अन्तर्गत है। इसी प्रकार वर्तमान जीवन प्रारम्भ होता है। मातृगर्भ से भूमिष्ठ होने से लेकर मृत्यु पर्यन्त सब वर्तमान है। इसके मध्य में काल विभाग अवश्य है, जैसे कैशोर, यौवन प्रौढ़त्व, वार्धक्य। वर्तमान को कहते हैं "Series of Points."

व्यावहारिक दृष्टि से काल क्षणों की समष्टि है। एक माला में अनेक फूल हैं। फूल सजाये गये हैं एक के बाद एक-एक सूत्र सबको ग्रथित करके जोड़ रहा है। यह सूत्र है क्षण। क्षण है एक अखण्ड वस्तु। क्षण अर्थात् 'ETERNITY'.

## क्षण रहस्य

हम लोगों की चित्तवृत्ति काल के अधीन होकर संस्कारवश निरन्तर आन्दोलित है। इसलिये वह स्थूल को त्याग कर सूक्ष्म सत्ता धारण नहीं कर सकती। काल क्षणों की समष्टि है। वस्तुतः काल तो बुद्धि से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। काल की वास्तविक सत्ता योगीगण नहीं मानते। काल बुद्धि से कल्पित पदार्थ मात्र है। क्षण के आन्तर्य से ही काल का ज्ञान उत्पन्न होता है। मूल स्पन्दन के प्रभाव से एक ही क्षण आन्दोलित अवस्था में, बहुत क्षणों के रूप

में, बुद्धि में अवभासित होता है। इसलिये विस्तार विशिष्ट काल प्रतीत होता है। समग्र काल के पृष्ठ भाग में एक मात्र क्षण विद्यमान है। उस एक ही क्षण में सब कुछ हो रहा है। जब महाज्ञान का उदय होता है तब क्रम नहीं रहता। महाज्ञान के उदय-क्रम का उलंघन करके सर्वविषयक सर्वाकार ज्ञान एक ही क्षण में प्रकट होता है ( अर्थात् उदय क्षणमात्र में होता है )।

काल के मध्य में क्षण का सहसा पता नहीं लगता। क्योंकि काल क्षण को ढँक कर अपने ऐश्वर्य को प्रकट कर रहा है। काल की सत्ता में क्षण सर्वत्र निहित है, तथापि सन्धि के बिना उसका आविष्कार नहीं किया जा सकता। दिन में काल के अवयवों की सन्धियां स्थूलमान से तीन अथवा चार या आठ भागों में विभक्त होती हैं। त्रिसंख्या, चतुःसंख्या, अष्टकाल आदि इन विभागों के ऊपर कल्पित है। वैष्णवों की अष्टकाल की लीला का स्मरण भी इन आठ क्षणों को पाने के लिये है। त्रिसंध्या, चतुःसंध्या, अष्टकाल का अनुष्ठान संधि-प्राप्ति के लिये होता है। एक बार क्षण प्राप्त हो जाने के पश्चात फिर उसे खो जाने की सम्भावना नहीं रह जाती। सर्वत्र ही उस महाक्षण का साक्षात्कार होने लगता है।

मनुष्य ने एक विशेषता लेकर जन्म लिया है। स्थूल दृष्टि से उस विशेषता को जन्मान्तर में कर्म संस्कार की विचित्रता द्वारा जानने की चेष्टा की जाती है, किन्तु वास्तव में कर्म वैचित्र्य भी मूल कारण नहीं है। मूल कारण है-जन्म-कालिक क्षण। वही समग्र जीवन को नियमित करता है। जिस समय मनुष्य का जन्म होता है, अर्थात् माता के गर्भ में जिस समय मनुष्य के अस्तित्व का संचार होता है अथवा देह की परिपुष्टि के अनन्तर माता के गर्भ से वह भूमि पर आता है, वह क्षण मनुष्य जीवन का मुख्य क्षण है। वह अत्यन्त मूल्यवान है, क्योंकि उसी का सम्पूर्ण जीवन पर नियन्त्रण रहता है। वास्तव में सम्पूर्ण जीवन में उसी एक क्षण की ही विभिन्न क्रियायें होती हैं। उस मूल क्षण में सम्पूर्ण जगत् की आपेक्षिक सम्बन्धमूलक सत्ता विद्यमान रहती है। उसमें जो शक्तियाँ निगूढ़ रूप से विद्यमान रहती है, जीवनपथ पर उन्हीं की अभिव्यक्ति होती है। जैसे बीज में वृक्ष और फूल, फल आदि सब सामग्रियां अति सूक्ष्मरूपेण विद्यमान रहती हैं, वैसे ही उस एक क्षण में ही विस्तार को प्राप्त हुये समग्र जीवन की सारी विचित्रताएँ विद्यमान रहती हैं। जिसकी हम लोग

काल के नाम व्याख्या करते हैं, वह योगी की दृष्टि में उसी क्षण का बहुत्वमूलक कल्पित विस्तार मात्र है । यदि वह क्षण भली-भाँति स्वायत्त किया जा सके तो उससे सम्बद्ध सारा जीवन और कर्म, सब स्वायत्त हो जाता है । यह पूर्ण सत्ता की ओर से अर्थात् प्राकृत गुणमय एवं अनित्यप्रकाश की दृष्टि से कहा गया है । अन्य पक्ष से साधक की साधना से तथा समुदित सौभाग्य से जिस क्षण का आविर्भाव होता है, वही महाक्षण है ।

## नाभिचक्र का जागरण

साधक बीज प्राप्त कर उसे काया रूप में प्रस्फुटित करता है । इससे उसकी साधकोचित् साधना पूर्ण होती ह । योगी शिष्य का आधार सबल होता है, अतः उसे इस प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं है । काया लाभ के पश्चात् साधक योगभूमि प्राप्त करता है, तथापि वह योगी ही रहता है । दर्पी योगी नहीं बन सकता । वह अज्ञात रूप से उत्तराभिमुख गति से योगधारा में प्रवाहित होता हुआ महाशक्ति के अंक में, अर्थात् परमाप्रकृति के स्वरूपभूत कमलदल में विशेष स्थान लाभ करता है । इसमें सन्देह नहीं कि वह अब योगी है, क्योंकि बिना योग पथ का आश्रय लिये परमाप्रकृति के अंकदेश में उपवेशन कर सकना सम्भव नहीं । इतने पर भी वह मात्र योगी ही है, दर्पी योगी नहीं । वह मध्य बिन्दु प्राप्त नहीं कर सकता । अपरदिक् जो प्रारम्भ से योगी है, उन्हें प्रारम्भ से ही योगकाया ( अर्थात् इष्ट अथवा गुरुकाया ) प्राप्त रहती है । उनका अन्तर्निहित बल ( आधार ) श्रेष्ठतर होता है । इसलिये गुरू उनमें प्रारम्भ से ( बीज नहीं देते ) बीज का विकास अर्थात् कायादान कर देते हैं । इसका फल है कि योगकर्म का अनुष्ठान करते-करते गुरु प्रदत्त काया का विकास हो जाता है । पूर्ण विकास हो जाने पर चिदाकाश का भेद कर वे योगी गुरू के स्वरूप में स्थान प्राप्त करते हैं । यह है बोधयुक्त अवस्था । वस्तुतः यही है शिव-भाव । साधक योगी रूप में परिणति प्राप्त कर सन्तान रूप से महाशक्ति की गोद

में स्थान प्राप्त करते हैं। जो प्रारम्भ में ही योगी हैं उनकी गति भिन्न है। वे कर्म पूर्ण होने पर शिवभाव में स्थित होते हैं। दोनों गतियों में पार्थक्य है। ये योगी खण्ड योगी के नाम से परिगणित होने योग्य हैं। इसके पश्चात् योग की और भी उच्चतर भूमि है। जो साधक योगी की स्थिति प्राप्त होने पर माँ के क्रोड़ में आसीन होते हैं उनके लिये इस उच्चतर योग-भूमि की प्राप्ति असम्भव है। इसके पश्चात् भी अवस्था होती है। पिण्ड अथवा ब्रह्माण्ड में सहस्रदल के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र नामक स्थान में योगी की स्थिति होती है। एक प्रकार से इससे ऊर्ध्व कोई स्थान नहीं होता। उससे उच्चतर अवस्था कैसे होगी? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका समाधान अवश्य है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति होने के पश्चात् भी एक गुह्य स्तर उन्मुक्त होता है। इस स्तर की उपलब्धि एवं स्थिति ब्रह्मरन्ध्र की अपेक्षा उच्चतर अवस्था है। उसका वर्णन करता हूँ।

वास्तव में ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति से भी महाशक्ति का विकास नहीं होता। जो महायोगी परमशिव अवस्था प्राप्त करते हैं, वे निम्नवर्ती समस्त सृष्टि के शिखर देश पर आरूढ़ होते हैं, तथापि उनके लिये अभी भी प्राप्य अवस्था विद्यमान है। वह अवस्था तभी प्राप्त होगी जब नाभिकेन्द्र का जागरण सम्भव हो सके। यह अत्यन्त दुरूह कार्य है। शिवत्व के पश्चात् भी इस केन्द्र को जगाना अत्यन्त दुष्कर है। अर्थात् जो योगी महाभाव में स्थित हैं ( वे जब तक नाभिचक्र का जागरण सम्पन्न नहीं कर पाते ) उनको शिवावस्था ही प्राप्त है। नाभिचक्र उद्बुद्ध होने पर परमशिवावस्था की अभिव्यक्ति होती है। शिवभाव एवं परम शिव भाव में अनेक पार्थक्य है। शिव है विश्वातीत, विश्वप्रपञ्च से अतीत। विश्व एवं शिव के मध्य एक व्यवधान है, जो उस समय भी रह जाता है, अपसारित नहीं होता। विश्व है जड़ एवं शिव हैं चैतन्यमय। वह विश्व के अतीत हैं किन्तु विश्वात्मक नहीं। इसका एक मात्र कारण है कि शिव में अभ्यन्तर शक्ति स्फुरण का अभाव है। शक्ति एवं उसका कार्य है विश्व। शक्ति अचित् है एवं उसका कार्य भी अचित ही है। शिव है चित् स्वरूप। चित् जब स्वयं में शक्ति स्फुरण का अनुभव करते हैं, तब वे अचित् रूप हो जाते हैं। शक्ति एवं उसके कार्य ( विश्व ) के साथ चित् रूपी शिव का समन्वय प्रतिष्ठित होता है। चित् रूप शिव एवं अचितरूपा शक्ति में चित्शक्ति उन्मेष द्वारा समन्वय होता है। यही है नाभि केन्द्र का जागरण।

यह अत्यन्त दुर्लभ है, अतः महायोगी भी नाभि-क्रिया का रहस्य नहीं जानते। यहीं से महाकुण्डलिनी की क्रीड़ा प्रारम्भ होती है। यह त्रिविध है। तीनों को आयत्त कर योगीगण महाशक्तिस्थ बिन्दु-भेद द्वारा ब्रह्मावस्था प्राप्त करते हैं। ये हैं दर्पी योगी। ये ही हैं महाखण्ड गुरु। ये ही त्रिविध शक्ति जागरण के पश्चात् अखण्ड महागुरु रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। जो इन तीन के अन्तर्गत मात्र एक कुण्डलिनी को जाग्रत कर कर्म पूर्ण होने के पूर्व ही देह त्याग कर देते हैं वे महाशक्ति के चक्र पर आसीन होते हैं, तथापि वह अस्थायी अवस्था है। दर्पी योगी स्वयं माँ बनकर एवं ब्रह्मत्व लाभकर, मां और गुरु के अभिन्न रूप की प्रतिष्ठापना करते हैं। वे मातृ-ऋण शोध करने में समर्थ होते हैं इनके अतिरिक्त मातृ-ऋण शोधन की क्षमता किसी में नहीं है।

## मातृऋण-शोधन

साधारणतः जन्म के साथ-साथ तीन प्रकार के ऋणों को लेकर जीव जन्म ग्रहण करता है। वे हैं, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण एवं देव-ऋण। ऋणी कभी मुक्ति प्राप्त नहीं करता। मुक्ति पाने के लिये ऋण-शोधन आवश्यक है। इन तीनों ऋणों के शोधनार्थ हिन्दू-संस्कृति में आश्रमों की परिकल्पना की गयी है। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्जन द्वारा ऋषि-ऋण शोध होता है। गृहस्थ आश्रम में सन्तानोत्पादन द्वारा पितृ-ऋण का शोधन होता है। वानप्रस्थ काल में यज्ञादि प्रक्रिया द्वारा देव-ऋण शोधन की व्यवस्था होती है। भौतिक-सत्ता कारण-सत्ता एवं विज्ञान-सत्ता के समन्वय को लेकर मनुष्य की सत्ता का गठन होता है। समष्टि-देह से जब व्यष्टि-देह उत्पन्न होती है। तब व्यष्टि-देह अपने प्रत्येक विभाग की रचना के लिये समष्टि से उपादान ग्रहण करती है। ऋषिगण से आध्यात्मिक सम्पदा एवं ज्ञान प्राप्त होता है। पितृगण से आधिभौतिक सम्पदा और भौतिक देह प्राप्त होती है। देवगण से आधिदैविक सम्पदा और इन्द्रियों की प्राप्ति होती है। इन सबके एकत्रीकरण से मनुष्य देह का निर्माण होता है। इसी प्रकार यह विश्व भी इन्हीं तीन उपादानों से निर्मित है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये समय,

विश्व का अतिक्रमण करते समय, कोई भी इन तीन उपादानों को अपने साथ नहीं ले जा सकता। जो जहाँ का उपादान है उसे वहीं छोड़ देना होता है।

ऋण-शोधन का तात्पर्य है तन्तुरक्षा। प्रथमावस्था है ज्ञानधारा की रक्षा। ( अर्थात् ऋषिऋण )। द्वितीय है भौतिक सत्ता-धारा की रक्षा ( पितृऋण ), तृतीय है दिव्य शक्ति समूहधारा की रक्षा ( देव ऋण )। इस प्रकार विश्व प्रवाह और मर्यादा को अक्षुण्ण रखकर व्यक्ति को विश्व से अवकाश प्राप्त करना होता है। जब तक ऋण-शोधन सम्पन्न नहीं होगा, तब तक अव्याहति प्राप्त होना असम्भव है। कहीं भी मातृऋण शोधन का उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः देव लोक, ऋषिलोक, और पितृलोक– सबकी प्रसवकारिणी है "माँ"। मातृ द्वार का अवलम्ब लेकर ही विश्व में प्रवेश होता है। विश्व से अवकाश ग्रहण के समय सब कुछ विश्व को लौटा देना होगा। किन्तु मातृ संस्पर्श द्वारा (शरीर प्राप्ति ) जिस कर्मशक्ति की प्राप्ति होती है, और उससे ज्ञान प्राप्ति द्वारा देहान्तावस्था में विश्वातीत सत्ता से संयुक्ति होती है, उसका प्रतिदान देने योग्य मनुष्य के पास कुछ भी नहीं है। वास्तविक रूप से ऋण-शोध तभी होगा, जब कि जो कुछ प्राप्त किया गया उसे सबमें वितरित कर दिया जा सके। अर्थात् यदि ब्रह्म-प्राप्ति के साथ-साथ समस्त मायिक जगत् को ब्रह्मरूप में परिणत करना सम्भव होता, वैसी स्थिति में सम्यक् ऋण-शोधन हो सकता। दुःख है ऐसा आजतक नहीं हो सका। साधारण योगी, साधक, ऋषि-मुनि इत्यादि आज पर्यन्त इस अभाव को दूर नहीं कर सके। माँ तो सन्तान का लालन पालन कर, उसे कर्मक्षम बना, ज्ञान प्रदान कर सम्यक् गठन कर देती है। सन्तान माँ के द्वारा गठित होकर बोध प्राप्त कर अन्त में माँ को छोड़कर चला जाता है। मातृक्रोड़ में स्थित रहते समय वह स्वयं को नहीं जानता। पक्षान्तर से वह स्वयं को जान लेता है। जानते ही माँ नही रह जाती और मातृक्रोड़ भी नहीं रह जाता। ब्रह्म एवं माया परस्पर विरुद्ध है अतः उनका समन्वय नहीं होता। साधनपथ द्वारा ब्रह्म तक उपनीत होना सम्भव नहीं। साधक जिसे ब्रह्म मानते हैं, वास्तव में वह ब्रह्म नहीं है। उसे जीव का ब्रह्म कह सकते हैं, प्रकृत ब्रह्म नहीं कह सकते। योगी कर्मी होकर देहान्त में ब्रह्मस्वरूप स्थिति प्राप्त करता है, किन्तु उससे पूर्व उसे माया अथवा महामाया राज्य का त्याग करना होता है। इसलिये माया या महामाया सन्तान की पूर्ण समृद्धि का फल लाभ नहीं कर पाती एवं ब्रह्म में भी माँ की सृष्टि की तनिक-सी क्षीण आभास-रेखा भी विद्यमान

नहीं रहती । किन्तु दर्पी योगी इस अघटन को घटित करने में समर्थ है । ये माँ की कृतज्ञ-सन्तान है । कर्म पूर्ण करके मातृभाव में प्रतिष्ठित होकर और तत्पश्चात उद्वृत्त भाव से आत्मकर्म के प्रभाव से ब्रह्मावस्था प्राप्त करते हैं। अतएव इनके कर्म से ब्रह्म और माया का अन्तरालवती व्यवधान कट जाता है । उन्हें माया का त्याग करके ब्रह्मावस्था में नहीं जाना होता । तथाकथित वैराग्य या सन्यास भी ग्रहण नहीं करना पड़ता । माँ के क्रोड़ मे बैठकर वे मायातीत ब्रह्मस्वरूप में स्थिति-लाभ करते हैं । तब माया मायारूप नहीं रह जाती । ब्रह्म भी ( स्थिति में ) सुदूर भावातीत अव्यक्त सत्तामात्र रूप नहीं रह जाता । निजस्वरूप से दोनों की सत्ता में नित्ययोग प्रतिष्ठित होता है । वास्तव में उस समय न तो माया है और न तो ब्रह्म ही है । पक्षान्तर से उस स्थिति में माँ एवं गुरु दोनों ही नहीं अथवा दोनों अपने साथ अभिन्न भाव में स्थित हैं। यह है वास्तविक रूप से आत्मस्वरूपावस्थान । यहाँ न तो त्याग है और न है ग्रहण अथवा अन्य प्रकार से कहा जा सकता है कि इस स्थिति में कुछ न रहने पर भी सब है, अथवा सब रहने पर भी कुछ नहीं है । उस स्थिति में योगी अभेद में माँ का स्फुरण करते हैं, एवं माँ ही ब्रह्म है, इस सत्य की उपलब्धि द्वारा माँ की प्रकृत मर्यादा वृद्धि करते हैं ।

हमारी सभी इद्रिन्याँ तृष्णायुक्त हैं । यह देह भी तृष्णायुक्त है । इस देह एवं इन्द्रियों के अतीत, इन दोनों का स्वामी "मैं" भी तृष्णायुक्त है । मातृ-ऋण शोधन के अभाव में जो योगी देहान्त में ब्रह्मावस्था की प्राप्ति करते हैं, उनको देह, इन्द्रिय एवं "मैं" की सत्ता अतृप्त रह जाती है ।

चक्षु रूप-दर्शन की आकांक्षा में अनादि काल से व्याकुल हैं । अनन्त रूपों का दर्शन करने पर भी उनकी व्याकुलता विनिवृत्त नहीं होती । वह रूप कहाँ है जिसके दर्शन से आखें चिरकाल के लिये शीतलता एवं शान्ति प्राप्त करेंगी । इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में एक प्रश्नचिन्ह-सा लगा है । देहान्त के पश्चात् जो मुक्ति मिलतीं है उसमें देह अतृप्त रह जाती है । इन्द्रियाँ अतृप्त रहती हैं एवं "मैं" भी अतृप्त रह जाता है । देह एवं इन्द्रियाँ तभी तृप्त होंगी, जब वे अमृत से परिपूर्ण हो सकें । वे तभी तृप्त होंगी जब वे काल के निश्वास से विचलित नहीं हों । मातृ-ऋण शोधन का अर्थ है—माँ एवं गुरु की अभिन्नता । यही है वास्तविक रूप से स्वयं की प्राप्ति । इसी प्राप्ति में समस्त प्राप्ति सन्निहित है ।

## गुरु, इष्ट, लक्ष्य एवं कर्म

जीव मातृगर्भ में ही दीक्षा प्राप्त करता है। जीव की दृष्टि का उन्मीलन ही दीक्षा है। सामान्य-जन दीक्षा के इस स्वरूप से अनभिज्ञ नहीं हैं। वास्तव में यही है स्वरूप-दीक्षा। अखण्ड महास्वरूप से खण्डवत् प्रतीयमान स्वरूप का आविर्भाव होता है। इस दीक्षा के प्रभाववश काल राज्य से स्वरूप का निर्गम सम्भव होता है। यह दीक्षा अत्यन्त गुह्य एवं सर्वव्यापक है। इसी कारण यह अधिकृत रूप से कहा जा सकता है कि एक न एक दिन सभी परमस्वरूप को प्राप्त होंगे। यह सामान्य दीक्षा है, विशेष दीक्षा नहीं। विशेष दीक्षा के मूल में ( जागतिक सम्बन्ध प्रतिष्ठित होने के पूर्व ही ) अधिकारी भेद आयत्त होता है। व्यावहारिक जगत् में जिसे दीक्षा कहते हैं, वह संस्काररूपा है, अर्थात् अन्तःस्थित वस्तु को जागृत कर देना। सृष्टि के आदि में जब परविन्दु से परमाणु रूप का क्षरण आरम्भ हुआ, तब विन्दु क्षरण के साथ ही एक ओर जैसे महामाया से घनिष्ठ सम्बन्धवशात् परमाणु मात्र का उदय होता है, वैसे ही दूसरी ओर साथ साथ विन्दु क्षोभ के कारण नाद अभिव्यक्त होता है, तथापि परमाणु अवतरण के मूल में स्वभाव-सिद्ध नाद का सन्धान नहीं मिलता। अवतरण के फलस्वरूप क्रमशः अचित् प्रकृति का पट जीव को आच्छन्न कर लेता हैं। उस स्थिति में नाद की उपलब्धि नहीं होती। यही नाद जीव की बहिमु ख अवस्था में भी उसके अन्तःस्थित चैतन्य का रूप ग्रहण कर (व्यवहार भूमि में ) जीव को परिचालित करता है। जीव इसे जान नहीं पाता। यह नाद ही है गुरुशक्ति। बाह्य जगत् में हो रहे संस्कारों के अनुष्ठान द्वारा यह नाद रूपी शब्द क्रमशः जीव में स्फुरित हो जाता है। वास्तव में यह नित्य जाग्रत शब्द है, तथापि जीव बहिमुंख है एवं आच्छन्न है, इसी कारण इसके अस्तित्व का अनुभव नहीं कर सकता।

संस्कार स्वरूप दीक्षा के पश्चात् क्रमशः जिस अवस्था का आविर्भाव होता है उसका वर्णन करता हूँ। गुरु की कृपा दृष्टि वस्तुतः लक्ष्य स्वरूपा है। इस लक्ष्य

का शिष्य के हृदय में शब्द रूप से आविर्भाव होता है। इसकी अभिव्यक्ति होती है। पहले जिस लक्ष्य का उल्लेख किया गया है, यह उसी का वर्णन है। यदि किंचित पार्थक्य है तो वह इतना ही है कि पूर्वोक्त शब्द जीव की बहिर्मुख अवस्था में चैतन्य सम्पादक है और यह है अन्तर्मुखीन अवस्था में चैतन्य सम्पादन। इसी अवस्था से गुरु संस्कार प्राप्त शिष्य कर्म का अधिकारी हो जाता है। संस्कार के पहले जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे प्रकृत कर्म नहीं हैं। कारण अकृत्रिम स्वभाव-सिद्ध कर्म का उदय न होने तक महाप्रस्थान पथ पर अग्रसर होना सम्भव नहीं। गुरुशक्ति संचार के पश्चात् ( आत्म चैतन्य जागृति के पश्चात् ) आभ्यन्तर कर्म सम्पादित होता हैं। यह वर्णन योगी की धारा का हैं। साधक की धारा खण्ड धारा होती है, अतः इस स्थल पर वह ग्राह्य नहीं है। पाकयंत्र हृदयन्त्र, श्वासयंत्र प्रभृति जिस प्रकार स्वतः ही कर्म में प्रवृत्त रहते हैं, उसी प्रकार संस्कार लाभ के पश्चात् गुरु शक्ति देह का आश्रय लेकर स्वतः कर्म करती रहती है ( यद्यपि साथ-साथ गुरु के निर्देशानुसार योगी अभ्यास काल में गुरुवाक्य का पालन कर कर्म प्रवृत्त रहता है )। कर्मदेह में, बाह्य चेतना में देहाभिमान विद्यमान रहता है, अतः इस बाह्य कर्म का मूल्य अत्यधिक है। इस अवस्था में गुरुवाक्य पालन एवं गुरु शक्ति प्राप्त अन्तःकर्म, दोनों अभिन्न रूप से चलते रहते हैं। बाह्य कर्म अनुष्ठित न होने पर स्वाभाविक कर्म यद्यपि पूर्णांशः में निरुद्ध भले ही न हो, और गुरु शक्ति से सब चलता रहे, तथापि उसमें मन्दता अवश्यम्भावी है। संस्कार लाभ के पश्चात् इस प्रकार के कर्म सम्पादन द्वारा, क्रमशः एक अवस्था का उदय होता है। जिस प्रकार शरीर के यन्त्र कर्म करते हैं, और क्रमशः अन्न परिपाक द्वारा रस, रक्त, प्रभृति का निर्माण होता है, उसी प्रकार योग-कर्म की स्वतः परिणति होती है। स्वाभाविक गुरुशक्ति की दैहिक यंत्र-शक्ति से तुलना की जा सकती है। भोग्य वस्तु का ( आहार रूपी ) अर्पण किये बिना शारीरिक यंत्र-शक्ति कार्य नहीं कर सकती। इसी उदाहरण के अनुसार बाह्य कर्म की प्राप्ति बिना गुरु शक्ति कैसे कार्य करेगी ? जीव की जीवनी-शक्ति के मूल में है विन्दु अथवा वीर्य। विन्दु का आश्रयण कर जीवनधारा चल रही है। विन्दु क्षय से मृत्यु होती है। योगी का योग कर्म अपने रचना कार्य में इसी विन्दु को उपादान रूपेण ग्रहण करता है। बाह्य कर्म की उपलब्धि न होने से इस बिन्दु का भेदन मन्द रूप से होता है। अतः योग कर्म तीव्र भाव से नहीं चलता, तथापि जब तक जीवनधारा अक्षुण्ण रहती है, तब तक कर्म से निवृत्ति नहीं होती। भीतर जो नाद क्रिया चल रही है उसका

रोध कभी नहीं होता, अतः योगी का कर्म भी निवृत्त नहीं होता। कर्म निवृत्त न होने पर भी उसका वेग मन्द हो जाता है। वास्तविक योग दीक्षा में शिष्य को लक्ष्यरूपी गुरुकाया की प्राप्ति होती है। यह गुरुकाया का स्वकीय अंश है। एक प्रकार से शिष्य के हृदय में गुरु ही अन्तरात्म रूप से कर्म करते रहते हैं। योगी के अतिरिक्त और कहीं भी ऐसा नहीं होता।

पूर्वोक्त कर्म के क्रम विकास के साथ-साथ वह चैतन्य सत्ता ( जो आभास रूप में समग्र सत्ता में व्याप्त थी ) घनीभूत होने लगती है। यदि असमय में मृत्यु न हो, वैसी स्थिति में इस प्रक्रिया से समस्त कलायें समष्टिभूत होकर विन्दु रूप को प्राप्त होती हैं। जब तक यह समस्त आभास रूप कला समूह चारो ओर बिखरा हुआ है, तब तक मैं' भाव का उदय सम्भव नहीं होता, अतएव विन्दुभाव की अभिव्यक्ति से अहंभाव का स्फुरण होता है। समस्त सत्ता के निचोड़ से रग-रग में जिस रस का संचार होता है, वही घनीभूत अवस्था में विन्दुरूप से व्यक्तित्व की अभिव्यंजना करता है ( बिन्दुभाव का उदय अर्थात् जड़ सत्ता के मध्य में चित्सत्ता रूपी बुद-बुद का उदय)। दुग्ध से जैसे नवनीत का निष्क्रमण होता है, उसी प्रकार कर्ममय से ( कर्म प्रभाव वश )उस विन्दुरूपी अहंभाव का उदय होता है।

## गुरु राज्य

पहले जिन लक्ष्यरूपी गुरु का वर्णन किया गया है, वे ज्योतिस्वरूप हैं। वास्तव में वे हैं ज्योति से भी अतीत। महामाया के साथ वे ज्योतिरूप में प्रकाशित होते हैं। एक ओर ज्योति है, दूसरी ओर उसी का नाम है आनन्द। जो आनन्द का स्वरूप हैं वही ज्योति का स्वरूप है। इस सबकी अवस्था निराकार अवस्था है। कर्म बिना आकार रचना नहीं होती। महामाया का नामान्तर है विशुद्ध सत्व। महामाया एवं ज्योति, दोनों विशुद्ध सत्व का आत्मप्रकाश ही है। जब सृष्टि-मुख से शक्ति की धारा अवतीर्ण होती है तब ज्योति, आनन्द

एवं दोनों का सहभावी नादचैतन्य आच्छन्न हो जाता है। मातृ-गर्भ में इस आच्छन्नता की पूर्णता हो जाती है। मातृ-गर्भ से प्रसूत जीव कालरात्रि के राज्य में देह सहित आविर्भूत होता है। इस स्थिति में जीव पूर्णतः आत्मविस्मृत हो जाता है। यद्यपि उसमें नाद, ज्योति एवं आनन्द, सभी विद्यमान रहता है, तथापि विस्मृतिवशात् जीव दरिद्र रूप से विचरण करता है। संस्कारकर्ता गुरु द्वारा संस्कार प्राप्त कर, कर्म वृद्धि के साथ-साथ ये आवरण शिथिल हो जाते हैं। पहले विन्दु अथवा बुदबुद की स्थिति का वर्णन कर चुका हूं। यह वास्तव में बोध की अवस्था है। कर्म द्वारा योगनिद्रा भेद करने पर बोध का उदय होता है। चैतन्य संस्कार विहीन साधारण जीवगण कर्म के अभाववश योगनिद्रा भेदन करने में अक्षम रहते हैं, अतः मरणान्त में योगनिद्रा में ( सुप्तावस्था में ) पड़े रहते हैं। पूर्वोक्त बिन्दु का उद्गम ( बोध का उदय ) उनमें नहीं होता। जिसे कर्म द्वारा योगनिद्रा का भेद होता है, वह शतभेदी कर्म के नाम से अखण्ड महायोग में ख्यात है। कारण योगनिद्रा ही शत संख्या वाच्य है।

इसके अतिरिक्त भी एक स्थिति है। योग-दीक्षा अथवा साधन-दीक्षा प्राप्त होने पर भी, यदि शतभेदी कर्म अपूर्ण रहने पर देहान्त हो जाये, वैसी स्थिति में न तो योग-निद्रा में स्थिति होगी और न बोध का ही उदय होगा, अपितु गुरु राज्य नामक विशाल प्रदेश में कर्मानुरूप स्थान की प्राप्ति होगी। यह योगी के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। साधक गुरुराज्य में नहीं, अपितु मोह-माया के राज्य में कर्मानुरूप स्थान प्राप्त करते हैं।

गुरु राज्य स्थूलतः दो भागों में विभक्त है। इसका एक अंश योग-निद्रा के निम्नवर्ती प्रदेश में स्थित है और अन्य अंश उससे ऊर्ध्ववर्ती प्रदेश में स्थित हैं। गुरुराज्य में कर्मनदी, मायानदी तथा अमृत नदी ( अमृत सरोवर ), एक के पश्चात् एक स्थित है। जीवित दशा में जीवत्व कर्म अपूर्ण रह जाने से कर्मनदी की प्रान्त भूमि में कर्म करने की योग्यता प्राप्त होती है। माया भेद न होने पर कर्म नदी के पार माया नदी की प्रान्तभूमि में स्थान प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक कर्मीगण हैं, जिन्होंने जीवत्व कर्म एवं माया का भेद कर लिया है, तथापि लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो सकी। ऐसी अवस्था में उन्हें देह त्याग करने पर माया नदी के पार ( अमृत सरोवर के किनारे ) स्थान प्राप्त होता है। जिनकी जैसी योग्यता होती है, उन्हें वैसी गति प्राप्त होती है। जो योगी देहावस्थान काल मे ही लक्ष्यपर्यन्त कर्म सम्पन्न

कर लेते हैं, उन्हें गुरु राज्य में नहीं जाना पड़ता। वे इसी देह में ही लक्ष्य-भेदी कर्म सम्पन्न करते हैं। कर्म नदी नीलरूपा है। माया नदी रक्तरूपा है। अमृत सरोवर शुभ्र रूप प्रतीत होता है। योगीगण सरल योगपथ प्राप्त करते हैं। वे माया नदी का लोहित सलिल अतिक्रम कर, अमृत सरोवर भी भेद करने में समर्थ होते हैं। अमृत सरोवर के उस पार पुरुष एवं प्रकृति का दैहिक भेद अक्षुण्ण रह जाता हैं। यह भेद रह जाने पर भी भेद ज्ञान की स्थिति नहीं रहती। लक्ष्योन्मेष के साथ-साथ दैहिक भेद विलीन हो जाता है। मात्र एक आभास अवस्थित रह जाता है।

जो सरल पथ के पथिक नहीं है अथच मायातीत अवस्था की प्राप्ति जिन्हें हो चुकी है, वे असंख्य लोक लोकान्तर में गमन करते रहते हैं। उनका लक्ष्य उन्मोचित नहीं होता। उन्हें लक्ष्य आवरित रह जाने का अभाव बोध भी नहीं होता। वे नाना आनन्दमय भूमियों में आत्मविस्मृत होकर विचरण करते रहते हैं। जड़ मृत्यु के अधीन न रहने पर भी वे प्रकृत लक्ष्य से विहीन हैं। कारण जिस भाव के अनुसार उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है, वह भाव, एवं वह आनन्द दोनों, अ-स्थायी है। महाप्रलय के समय ये सब जीव सरल पथ का अवलम्बन करने पर बाध्य होते हैं। उस समय ये अन्य आकर्षण से स्रोत में बहते चले जाते हैं।

जो इनसे अपेक्षाकृत निम्नस्तरीय कर्मी हैं, उन्हें माया भेदी कर्म में प्रवृत्त होना होगा। यह एक प्रकार से योगी की नहीं अपितु साधक की गति है। वे मोह-माया के राज्य में कर्मानुरूप गति प्राप्त करते हैं। साधक अणु को कर्म द्वारा शुद्ध कर वर्जित कर देते हैं ( अपने से अलग कर देते हैं )।

प्रकृत योगी अणु को शुद्ध कर ग्रहण कर लेते हैं। इसी कारण दोनों की गतियों में पार्थक्य है। मोहमाया का राज्य अणुराज्य है। सृष्टि के आदिकाल में महामाया रूप से जिनका प्रकटीकरण हुआ है, उनका ही राज्य गुरु राज्य है। आदि गुरु शिव हैं। गुरु का राज्य शिव का राज्य है। दीक्षा काल में दीक्षा के साथ गुरुगण आश्रय भी प्रदान करते हैं। यह गुरु कृपा के अन्तर्भुक्त है। इसी कारण शिष्य गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने के साथ-साथ उक्त आश्रय प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। तथापि मात्र कृपा से ही पूर्णत्व प्राप्ति नहीं होती। कृपा के साथ ही कर्म भी आवश्यक है। जो शिष्य कृपा पाकर भी कर्म पूर्ण नहीं

कर पाते, उनके लिये इस गुरुराज्य रूपी नित्य आश्रय की व्यवस्था की गई है। इस राज्य का आश्रय उन्हें कालराज्य में स्खलित होने से बचाता है। अपूर्ण कर्मी योगीगण देहान्त के पश्चात गुरुराज्य में उपनीत होकर ( स्वभाव के स्रोत में ) अवशिष्ट कर्म पूर्ण करते हैं। यह गुरु की मंगलमयी व्यवस्था है।

## ज्ञानगंज

विशुद्धसत्तान्तर्गत योगी की व्यवस्था अन्य योगियों से पृथक एवं अन्य प्रकार की है। अन्यान्य योगीगुरुगण खण्ड योगीरूप से परिगणित हैं। विशुद्ध सत्ता अखण्ड की पथप्रदर्शिका है। अतएव अन्य योगी की कृपा एवं अनुग्रह की अपेक्षा, इसमें अनुग्रह एवं कृपा की मात्रा अधिक है। अन्य योगीगुरु महाभाव में प्रतिष्ठित हैं। विशुद्ध सत्ता ने इनसे श्रेष्ठतर स्थिति प्राप्त की है। वह नाभिचक्र भेदन कर महामाया स्तर पर्यन्त आयत्त कर चुकी हैं। उसकी स्थिति चिन्मयी प्रकृति पद-रूपा है। जो आश्रितजन अपूर्ण कर्म काल में देहत्याग करते हैं, वे ज्ञानगंज रूप अति उत्कृष्ट स्थानलाभ करते हैं। यह गुरु राज्य से उत्कृष्टतर है और योगनिद्रा से ऊर्ध्व में अवस्थित है। जो स्थान शतभेदी कर्मफल से प्राप्त होता है, वही स्थान केवल गुरु कृपा के प्रभाव से शिष्य प्राप्त करता है। फिर भी दोनों में पार्थक्य है। यद्यपि गुरु की कृपा से विशुद्ध सत्तामार्गी शिष्य को ज्ञानगंज में स्थान प्राप्त होता है, तथापि कर्मों की गति से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उसे इस समय बोध की प्राप्ति नहीं होती। उसे बोध प्राप्ति के लिए पुनः कर्म का आश्रय लेकर, कर्म पूर्ण करना होगा। कर्मभूमि में जो कर्म अल्प प्रयास में एवं अल्प समय में पूर्ण किया जा सकता है, उसे ज्ञानगंज में पूर्ण करते समय बहुत अधिक प्रयास एवं समय की आवश्यकता पड़ती है। वहाँ कर्मपूर्ति के पश्चात् लक्ष्य प्राप्त होता है और महाप्रस्थान का पथ प्राप्त होता है। गुरु राज्य में भी लक्ष्योन्मेष के पश्चात् उसी पथ की प्राप्ति होती है। उस स्थिति में ज्ञानगंज एवं गुरुराज्य की गतियों में कोई पार्थक्य नहीं रह जाता। तुलनात्मक

रूप से दोनों में एक स्फुट पार्थक्य अवश्य परिलक्षित होता है। गुरुधाम का यात्री महाभाव पर्यन्त गति प्राप्त करता है, किन्तु ज्ञानगंज का यात्री लक्ष्योन्मेष के पश्चात् महाभाव से भी ऊर्ध्व परमाप्रकृति पर्यन्त गति प्राप्त करता है।

## बोध का उदय

आलोचना प्रसंग में विन्दु के आविर्भाव की बात कही गई है। इसी का नामान्तर है 'बोध'। बोधोदय के साथ-साथ योगी के हृदय में एक व्याकुलता एवं तृष्णा का उदय होता है। मानो एक अभाव सर्वदा प्राणों को उद्वेलित कर रहा है, अथच उसका कुछ स्पष्ट निर्देश न मिल पाता हो। जिसको न पाने से एक प्रकार की व्याकुलता अपने आप में उठती है, वह वास्तव में आनन्द की ही आकांक्षा है। जो आनन्द ( सृष्टि के साथ-साथ ) जीव के हृदय में प्रच्छन्न भाव से विद्यमान है यह उसी आनन्द का आह्वान है। लक्ष्यरूपी गुरु-शुद्धसत्व रूप से जीव के हृदय में विद्यमान है, किन्तु जीव लक्ष्यहीन होने के कारण उस आनन्द का संधान नहीं पाता, क्योंकि आनन्द आवरण से आच्छादित है। किंचित कर्म-साधना द्वारा बोध का उदय होने पर, इस अन्तःस्थित आनन्द के अभाव को अतिक्षीण रूप से बहिर्जगत में अनुभूत करता है। जीव बहिर्मुख है, अतः आनन्द के आभास को पकड़ने में प्रवृत्त होता है ( यह है, विन्दु के पश्चात् रेखारूपी गति का सूत्रपात )। आभास को पकड़ने में प्रवृत्त होने पर भी जीव उसे पकड़ नहीं पाता। तब वह देखता है कि यहाँ आनन्द तो है ही नहीं, साथ-साथ उसके आभास का भी कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थिति में वह लौट जाता है। पुनः अन्यत्र इस प्रकार का आभास प्राप्त कर उधर दौड़ता है। तत्पश्चात् पुनः निराश होकर वापस लौट जाता है। इस प्रकार निरन्तर वह तृष्णातुर पथिक मृगतृष्णा के पीछे व्यर्थ भ्रमण करता रहता है। संसाररूपी मरुभूमि में वह इस प्रकार पुनः पुनः भ्रमण करते-करते क्लान्त हो जाता है। उसे कहीं भी सार वस्तु प्राप्त नहीं होती। यही अन्वेषणावस्था है। इसका नाम है ज्ञान। इस प्रकार क्लान्त होने से उसकी बहिर्मुखी गति और वेग निरुद्ध हो जाता है। उसमें स्थिरता

आती है। इन्द्रिय एवं मन का बहिःप्रभाव कार्यरत नहीं रह जाता। इस अवस्था में दृष्टि के उन्मेष से लक्ष्य खुल जाता है। जैसे यह एक ओर लक्ष्य का उन्मेष है, वैसे ही दूसरी ओर यह है पूर्ववर्णित अन्तःस्थित आवरण का अपसारण। इस स्थिति में उसकी दृष्टि के सम्मुख लक्ष्य रूप आनन्द प्रस्फुटित होता है। अब प्रारम्भ होता है बहिर्जगत से अन्तर्जगत में प्रवेश। यह आनन्द उसके सम्मुख इष्टरूप अथवा जननी रूप से प्रकाशित होता है। जब तक अन्तर्दृष्टि नहीं खुलती, उस समय तक यह अपरोक्ष ज्ञान अथवा साक्षात्कार नहीं मिलता। जिसे चाहे जो कुछ भी प्रिय लगे, उस सब की समष्टि उसके सम्मुख इष्टरूप से ही प्रकाशित होती है। अखण्ड महायोग में इसे कहते हैं—भाव का प्रकाश या भावराज्य में प्रवेश।

यह सत्य है कि लक्ष्योन्मेष के साथ-साथ आनन्द की प्राप्ति होती है, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि लक्ष्योन्मेष के पश्चात् कर्म की स्थिति न रहने से ( योगी की ) यह चरम प्राप्ति कही जाती है। कारण इस स्थिति में योगी स्थिर हो आनन्द सम्भोग करता है, निष्क्रिय हो जाता है। योगी इस स्थिति में माँ का दर्शन प्राप्त कर मुग्ध हो जाता है और आगे अग्रसर नहीं हो सकता। यह अत्युच्च अवस्था होने पर भी दुर्बलता बोधक है। इसका एक मात्र कारण है कर्म की न्यूनता। कर्म तीव्र न होने पर रूप दर्शन नहीं होता। अतीव कर्म स्थिति में ज्योतिदर्शन के साथ बाह्य ज्ञान विलुप्त हो जाता है। जो श्रेष्ठ योगी हैं वे कर्मकाल में कभी भी हीनभाव नहीं होते। अतः लक्ष्योन्मेष के पश्चात् भी वे कर्मरत रहते है। वास्तव में लक्ष्योन्मेष के पश्चात् ही प्रकृत कर्म प्रारम्भ होता है। दुर्बल साधक इस अवस्था को ब्रह्म प्राप्ति मानकर कर्म त्याग कर देते हैं।

## गुरु-राज्य एवं ज्ञानगंज ( तुलनात्मक )

गुरुराज्य एवं ज्ञानगंज, दोनों स्थूलाभिषिक्त स्थान हैं। पृथ्वी पर जीवन-काल में कर्म पूर्ण न होने पर, इन स्थानों में कर्माधिकार प्राप्त होता है। पृथ्वी

और इन दोनों स्थानों में तुलनात्मक भेद है। पृथ्वी मरभूमि है, किन्तु ज्ञानगंज एव गुरुराज्य दोनों अमरभूमि हैं। जैसे पृथ्वी पर कर्मकाल में बाह्य भाव विद्यमान रहता है, वैसे ही गुरुराज्य एवं ज्ञानगंज में भी बाह्यभाव विद्यमान है। लक्ष्योन्मेष न होने तक कहीं भी अन्तःप्रवेश प्राप्त नहीं होता। ज्ञानगंज अथवा गुरुराज्य की प्राप्ति होने से ही लक्ष्योन्मेष नहीं होता। ज्ञानगंज एवं गुरुराज्य दोनों अन्तंजगत रूप से परिगणित नहीं हैं। दोनों बाह्यजगत के अन्तर्गत हैं तथापि पृथ्वी से इनमें भेद है और पार्थक्य है। यही नहीं, इनमें परस्पर भी पार्थक्य है। पृथ्वी पर कर्म की गति अत्यन्त द्रुत है। तद्विपरीत इन दोनों स्थानों की गति अत्यन्त मन्द है। इसी कारण मरदेहावलम्बन काल में ( मरदेहावस्थान काल में ) कर्म करने से अपेक्षाकृत् अल्पकाल में ही दीर्घपथ अतिवाहित होता है। लक्ष्य खुल जाने के पश्चात ( अर्थात् अन्त: दृष्टि उन्मुक्त होने पर, अथवा भाव का विकास होने पर) मरजगत एवं अमर जगत् के कर्म में क्षिप्रता एवं मन्दता के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं रहता। उदाहरणार्थं अमरजगत में लक्ष्योन्मेष होने पर, कर्म स्रोत अत्यन्त मन्दगति से प्रवाहित होता है। अत: किसी -किसी अवस्था में पहुँचने अथवा उपनीत होने में युग-युगान्तर कालक्षेप हो सकना असम्भव नहीं। मरदेहावस्थान काल में कर्म करने से लक्ष्यगति में तीव्र बल एवं वेग विद्यमान रहता है। कोई विघ्न अथवा प्रतिबंधक न होने से सभी भूमियों का शीघ्रातिक्रमण सम्भव है।

## मातृ सेवा

प्रतिबंधक कारणों की आशंका प्रतिपद पर विद्यमान है। अतिसूक्ष्म मार्ग पर संचरण करते समय अतिसूक्ष्म प्रतिबंधक भी विघ्नकारक होता है। ऐसे ऐसे प्रतिबंधक आ उपस्थित होते हैं, जिन्हें प्रतिबन्धक नहीं कहा जा सकता। इसलिये गति अति तीव्र होने पर भी निष्कन्टकरूपेण पथ अतिवाहित करना असम्भव है। प्रतिपद पर स्खलित होने की सम्भावना है। महाखण्डगुरु जगत् में प्रकट होकर इस प्रकार के सूक्ष्म प्रतिबन्धक कारणों को दूर करने के उपाय का

निर्देश करते हुए शिष्य को कर्मफल प्रदान करते हैं। यदि महाखण्डगुरु सुदूर पथ के निर्देशकर्ता रूप हों, प्रतिबन्धक कारणों को दूर करने के उपाय का प्रदर्शन न करते, वैसी स्थिति में सुदूर पथ का पथिक एक पद भी अग्रसर होने में सक्षम नहीं होता। वह उपाय और कुछ नहीं है, मात्र मातृ-सेवा है। माँ जगदम्बा सृष्टि की मूल शक्तिस्वरूपा हैं। उन्हें सेवा द्वारा प्रसन्न कर सकने पर, उस प्रसाद के प्रभाववश ज्ञात एवं अज्ञात सभी योगविघ्न विदूरित हो जाते हैं। माँ महाशक्ति स्वरूपा हैं। कर्म में शक्ति सहाय्य आवश्यक है। योगीगण योग-दीक्षा के साथ-साथ जिस गुरुदत्त काया की प्राप्ति करते हैं, वह लक्ष्य अथवा शक्तिस्वरूपा है। लक्ष्य अथवा की शक्ति सहायता से योगी का कर्म चलता है। योगी जो कुछ बाह्यत: करता है, वह सब निमित्तमात्र है। इस शक्ति का नाम है गुरु-शक्ति। जो शक्ति निरन्तर कर्मनिरत हो स्तर के पश्चात् स्तरों की रचना कर रही है, उसको पुष्ट करना नियमत: योगी का कर्तव्य है। यह है मातृ-सेवा की दार्शनिक भित्ति। यदि कोई यन्त्र कार्य करते करते क्षीण हो जाता है, उस स्थिति में पुनः रसापूरण द्वारा पुष्ट करना आवश्यक है। गुरुदत्त शक्ति मातृ-स्वरूपा है। माँ मूलत: कुमारी स्वरूपा हैं। इसी कारण जीवन्त काल में, जीवित देहधारिणी कुमारी माता की यथाविधि सेवा का इतना महात्म्य है। बाह्यमूर्ति की उपासना से जीवन्तशक्ति नहीं प्राप्त होती। बाह्यमूर्ति को योगी प्राणप्रतिष्ठा के समय अपनी जीवन्त शक्ति द्वारा संजीवित करता है। जो मूर्ति योगी की शक्ति से संजीवित है, वह योगी को कैसे शक्ति प्रदान करेगी ? अत: साक्षात् मातृरूपा महाशक्ति की सेवा आवश्यक है। स्थूलदेह की पुष्टि सेवा द्वारा होती है। उपासना अथवा आराधना के अन्यान्य अंगों का उतना महत्व नहीं जितना सेवा का महत्व है। सेवा द्वारा देह पुष्ट होती है, तृप्ति और रससंचार होता है। प्रसाद का सेवन कर योगी माँ के साथ अछेद्य बंधन से युक्त होता है। इस प्रकार सेवा द्वारा माँ को बांध सकने से, माँ स्वयं गुरुशक्तिरूपिणी हो, योगी का समस्त कार्य सम्पादित करती है।

सेवा योगपथ का एक अनिवार्य अंग है। सेवा के अतिरिक्त योगी कर्मपथ पर अग्रसर नहीं होता। किंचित अग्रसरता प्राप्त होने पर भी त्रुटि-विच्युति के परिणामस्वरूप पुन: निम्न स्तर में पतित हो जाता है। अमर लोकों में मरदेह-सम्पन्न कुमारी माता दुर्लभ है। अतएव अमरलोक में योगी की अग्रगति क्षिप्तता से नहीं होती। यदि कोई अग्रसर भी होता है, तो वह स्तंभित भी हो सकता

है। कारण, वहाँ मातृसेवाजनित सहायता की आशा नहीं है। मरदेह में जैसे कर्म का उत्कर्ष है, वैसे ही साक्षात् भाव से मातृसेवा का अधिकार भी प्राप्त है। अतएव विघ्नों की आशंका दूरीभूत हो जाती है।

## कृपा एवं कर्म

कर्मतत्व विश्लेषण प्रसंग में कृपा और कर्म का पारस्परिक सम्बन्ध विशेषत: आलोच्य है। कृपा शब्द से जो अर्थ स्पष्ट होता है, उससे सभी सुपरिचित है। तथापि यह सत्य है कि मात्र कृपा द्वारा पूर्णत्व प्रप्ति नहीं होती। कर्मव्यतीत कृपा और कृपाव्यतीत कर्म दोनों असम्भव हैं।

कृपा दो प्रकार की है—खण्डकृपा एवं महाकृपा। खण्डगुरु अथवा महाखण्ड गुरु ( जगदम्बा या परमात्म ) जीव पर जिस कृपा का वर्षण करते हैं, वह खण्ड कृपा है। अधिक शक्तिसम्पन्न, अपने से न्यूनतर का, ( अपनी शक्ति से ) जो उद्धार कार्य करते हैं, उस शक्ति का नाम कृपा है। यह सत्य है कि कृपा द्वारा आकर्षण होता है एवं आकर्षण के फलस्वरूप उद्धार कार्य सिद्ध होता है, तथापि यह पूर्णता नहीं है। अवस्था विशेष में इसकी आवश्यकता है। प्राथमिक अवस्था में कृपा के बिना जीव का कार्य नहीं चल सकता। मातृकृपा के अतिरिक्त शिशु वर्धित् कैसे होगा ? इसी प्रकार जीव भी जगदम्बा की कृपा के अतिरिक्त दुखमय स्थान से अलग होकर दु:खातीत शुद्ध स्थान में कैसे उपनीत होगा ? इससे यह स्पष्ट होगा कि खण्डकृपा भी आवश्यक है तथापि इस खण्ड कृपा से कृपाभाजन पूर्णत: लाभान्वित नहीं हो सकता। अन्य की शक्ति द्वारा प्राप्त कोई भी अवस्था स्थायी नहीं होती। खण्ड कृपा कितनी ही महती क्यों न हो, उसका फल कितना ही आनन्दमय क्यों न हो, महाप्रलय काल में उसका किंचितमात्र अस्तित्व नहीं रह जाता। यही नहीं, इस कृपा को प्राप्त कर कृपाभाजन व्यक्ति, आत्मशक्ति विकास के हेतुभूत कर्म से विरत होकर आत्मपरिचय से चिरवंचित रह जाते हैं।

कृपा की आवश्यकता एक चिर सत्य है, तथापि उसकी आवश्यकता है, आत्म-शक्ति विकास के सुयोग एवं स्थान प्राप्ति हेतु। इसीलिये कृपा प्राप्ति के पश्चात् भी कर्म का प्रयोजन है। कर्माभिव्यक्ति के फल से कृपा के मूल स्थान पर्यन्त सभी भूमियों पर अधिकार प्राप्त होता है और चरमावस्था में जगन्माता (परमात्मा) का तादात्म्य लाभ भी होता है। इतना ही नहीं, योगी तादात्म्य का भी भेद कर स्वयं ही तत्स्थानापन्न होने का सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। यहाँ तक कृपा की सीमा है। यहाँ तक का कर्म, कर्म होने पर भी कृपामूलक कर्म है। इसके पश्चात् इस प्रकार का कर्म है जिसे कृपाशून्य कर्म कहा जा सकता है। तब कृपा नहीं रह जाती। अर्थात् कृपा प्रकटरूपेण न रहकर गुप्त भाव से विद्यमान रहती है। इस स्थिति का कर्म आत्मकर्म है। यह कृपाशून्य कर्म है। कृपाशून्य कर्म के व्यतीत ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो सकता। अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान संज्ञा से जो कुछ ध्वनित होता है, उसे मरदेहावस्थान स्थिति में प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कृपा का कर्म पूर्ण करने के उपरान्त कृपा-शून्य कर्म की भी पूर्णता प्राप्त हो। उस समय जिस ज्ञान का आविर्भाव होगा, उससे इहलोक एवं परलोक का भेद समाप्त हो जायेगा। महामाया और ब्रह्म का भेद तिरोहित होगा, इष्ट और गुरु के समस्त व्यवधान चिरकाल के लिए समाप्त हो जायेंगे।

## लक्ष्य एवं कर्म

लक्ष्य के साथ कर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। अस्थिर लक्ष्य स्थिति में कर्म सम्भावना नहीं रहती। लक्ष्य को कर्म द्वारा प्राप्त किया जाता है। जगत् में कर्म शब्द से जो परिचित है वह प्रकृत कर्म नहीं है। जगत् में जिसे ज्ञान कहते हैं, वह भी चरम दृष्टि से ज्ञान पदवाच्य नहीं। जागतिक सिद्धान्तानुसार ज्ञान कर्म का परवर्ती है। कर्म द्वारा चित्तशुद्धि होने पर उपा-सनाधिकार प्राप्त होता है। उपासना के फलस्वरूप उपास्य एवं उपासक का स्वरूपगत अभेद ज्ञान प्रस्फुटित हो उठता है। इस स्थिति में मुक्ति-लाभ होता

है। यह है वेदान्तानुगत चिन्तन प्रणाली का विवरण। अन्य धाराओं में भी अन्य विवरण देखा जाता है, तथापि वह यहाँ आलोच्य नहीं। जीव के पूर्णत्व पथ में, जीव का निज कर्तव्य भी है। इसके लिए मातृस्वरूपा शक्ति की भी सार्थकता है और ब्रह्मस्वरूप गुरु भी प्रयोजनीय है। लक्ष्य द्योतक है गुरु (ज्ञान) का एवं कर्म द्योतक है, शिष्य की स्वचेष्टा का। नौका-चालन के लिए जैसे कर्णधार की आवश्यकता होती है, वैसे ही कर्णधार लक्ष्य और दिशा का निर्देश करते हैं। स्थिर भाव से नौका को लक्ष्य की ओर अभिमुख रखने की चेष्टा करते हैं। इतना करने पर भी मात्र लक्ष्य निश्चित करने से ही लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो जाती। इसके लिए नौका की पतवार का चालन आवश्यक है। इसी प्रकार जीवन पथ में गुरु से जो प्राप्ति होती है, वह है लक्ष्यनिर्देश। वास्तव में गुरु स्वयं ज्ञानरूप है, उसकी काया भी ज्ञान स्वरूपा है, उनकी दृष्टि भी ज्ञान दृष्टि है। उसका एकांश कृपा रूप से शिष्य हृदय में निहित रहता है। वही प्रत्यावर्तन काल में शिष्य की अन्तर्दृष्टि के सम्मुख "स्व" लक्ष्य रूप से प्रकाशित होता है। किम्बहुना, शिष्य की दृष्टि पहले आच्छन्न रहती है। बीज आधान द्वारा सन्तान का जन्मदान अथवा लक्ष्यरूपी बीजाधान द्वारा जीव को शिष्यरूप में परिणत करना, एक ही स्थिति है। कर्म प्रभाव से लक्ष्य का आवरण कट जाता है। यह आवरण क्रमशः शिथिल होता है, तदनुसार योगी की गति के भिन्न-भिन्न स्तर निर्दिष्ट किये जाते हैं। लक्ष्य क्या है? लक्ष्य है शिष्य के प्रति गुरु की दृष्टि। पक्षान्तर से यही है शिष्य की गुरु के प्रति दृष्टि। गुरु का अखण्ड रूप अलक्ष्य है, तथापि उनका अभिव्यक्त रूप शुद्धसत्व के साथ योगयुक्त होकर जब आनन्दरूप एवं ज्योतिरूप में परिणत होता है, वही शिष्य के लिए गुरुस्वरूप है। यही है एक ही आधार में गुरु और माँ। पहले कहा जा चुका है कि आनन्द ही इष्ट है। अतएव शिष्य का लक्ष्य स्थापन, वास्तव में इष्ट के प्रति नियोजित दृष्टि स्थापन है। यह आनन्द ही माँ एवं शक्ति की संज्ञा से योगी समाज में परिचित है। भावोदय के साथ-साथ माँ का साक्षात्कार होता है। स्मरणीय है कि भाव से परमाप्रकृति पर्यन्त, अर्थात् तृतीय भूमि से सप्तम भूमि पर्यन्त, योगीगण प्रायः माँ को तत्तत् वेश में एवं तत्तत् भाव में प्राप्त करते हैं। तृतीय, चतुर्थ, पंचम एवं सप्तम–ये कई भूमियाँ ही मातृ भूमियाँ है अथवा मातृराज्य हैं। षष्ट भूमिका में माँ का दर्शन नहीं प्राप्त होता। षष्ट भूमिका सबके लिए नहीं है। पंचम भूमिका के पश्चात् विशेष अधिकारी नाभिचक्र जागरण होने पर षष्ट भूमिका को प्राप्त होते हैं। अर्थात् सूर्य मण्डल या महासविता का भेदन वे ही करने में समर्थ होते हैं जो

पंचम भूमिका के पश्चात् नाभि जागरण के फलस्वरूप षष्ट भूमिका में उपनीत हो पाते हैं । सूर्यमण्डल भेदन करने के पश्चात् सप्तम भूमिका की प्राप्ति होने से यहाँ आबद्ध रह जाने की आशंका नहीं रह जाती । कारण उस समय ब्रह्मसत्ता का पूर्वाभास योगी में भासित हो उठता है और उस आकर्षण से वह सप्तम भूमिका का भेद करने में समर्थ होते हैं । सप्तम भूमिका भेदन द्वारा देहावसान काल में ही ब्रह्मावस्था प्राप्त करने की सम्भावना होती है । उस स्थिति में महामाया और ब्रह्म का अनादिकालीन व्यवधान कट जाता है । दुःख है कि यह अवस्था सृष्टि के आदिकाल से आज पर्यन्त घटित नहीं हो सकी ।

## ज्ञानगंज ( विशष )

ज्ञानगंज स्फटिकमय है । गुरुराज्य का उध्वांश भी उसी प्रकार का है । वह स्फटिक वस्तुतः स्फटिक नहीं है । शुद्ध निर्मल ज्योति घनीभूत होकर स्फटिकवत् स्वच्छ शुक्ल आकाररूपा प्रतीयमान होती है । ज्ञानगंज निम्न प्र देश में मृत्तिका-विहीन है और ऊर्ध्वप्रदेश आकाशविहीन है, अर्थात् वहाँ अधः उर्ध्व का कोई बोध नहीं रहता । पृथ्वी में जब हम निम्नतल में दृष्टि निक्षेप करते हैं, तब मृण्मय धरित्री की उपलब्धि करते हैं और मस्तक के ऊपर विस्तृत नीलाकाश का दर्शन पाते हैं । ज्ञानगंज में इस प्रकार की अधःरूपा पृथ्वी एवं आकाश अथवा शून्य देश दृष्टिगोचर नहीं होता । सर्वत्र ही एक स्वच्छ ज्योति विराजित रहती है । वहां दिन अथवा रात्रि का भेद अनुभूत नहीं होता । वास्तव में वहाँ दिवा-रात्रि नहीं होती । इसी प्रकार देश ज्ञान और काल ज्ञान भी नहीं है । तथापि वहाँ यहाँ की तरह बाह्य सत्ता का विचित्र एवं बहुत्व विद्यमान है । ज्ञान का राज्य अनेकांश में यहाँ की तरह ही है । विभिन्न स्तरों की विभिन्न व्यवस्था भी है । गुरु-राज्य के प्रदेश विशेष में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिये तपस्या का स्थान है । ये सभी ब्रह्मचारी अक्षत ब्रह्मचर्य सम्पन्न हैं, कारण उन्होंने इसी राज्य में जन्म ग्रहण किया है । वे कालराज्य से मरकर यहाँ नहीं आये हैं । वे निरन्तर यथा-

विधि गायत्री उपासना और होम करते रहते हैं। मरजगत में रहते हुये यहाँ अनुष्ठित, उपासना के रहस्यों की उपलब्धि असंभव है।

## पथ

कर्म नदी का पूर्वपार अपने परपार से अपेक्षाकृत उन्नत एवं अधिक सुन्दर है। इसी प्रकार मायानदी का परपार कर्मनदी के पूर्वपार से अधिक सुन्दर है। प्रत्येक स्थान पर नाना प्रकार के जीव अपनी अपनी योग्यतानुसार तपस्या में निमग्न रहते हैं। मायानदी के परपार एक वक्रपथ और एक सरल पथ दृष्टिगोचर होता है। वक्रपथ की वर्णना पहले की जा चुकी है। यह वक्रपथ असंख्य प्रकार की वक्रता प्राप्त कर असंख्य लोकों के साथ सम्बद्ध है। एक ही पथ वक्रगति से घूम-घूम कर संख्यातीत पथ की आकृति में बिवर्तित हो गया है। ये सब पथ मायातीत और सुखमय प्रतीत होने पर भी वस्तुतः एक प्रकार भ्रम के अन्तर्गत हैं। लक्ष्योन्मेष न होने तक प्रकृतपथ का दर्शन नहीं होता और प्रकृत पथ का विस्तार बाहर न होकर अन्तर्गत अर्थात् भाव-राज्य में है। अतएव इन वक्रपथों में भाव अथवा स्वभाव प्राप्ति का अभाव है। वे वक्रपथ मायातीत हैं, तथापि इनके साथ सम्बद्ध भावलोक प्रकृत भावमय नहीं है। वे सब भाव के अभाव का प्रतीक मात्र है।

वास्तविक भक्ति के साथ ज्ञान का कोई विरोध नहीं है। साधारणतया जगत् में प्रचलित विचारधारा के अनुसार ज्ञानोदय के पूर्व भक्ति का स्थान निर्दिष्ट है। किन्तु वास्तव में शुद्धभक्ति, सरस-भक्ति एवं अकृत्रिम-भक्ति, लक्ष्योन्मेष ( ज्ञानोदय ) के पूर्व हो ही नहीं सकती। भाव के विकास का यथार्थ तात्पर्य है, भक्ति-राज्य में प्रवेश, अथवा आन्दरूपा माँ का साक्षात्कार लक्ष्योन्मेष ( ज्ञानोदय ) के पूर्व जिस भाव का संचार होता है, वह स्थायी भाव नहीं है। इसी कारण, ( माया नदी के रक्त सलिल के परपार अवस्थित होने

पर भी ) संचारी भावराज्य स्थायी नहीं हो पाता। महाज्ञान तो अत्यन्त दूर की बात है, अन्तर्दृष्टि रूप लक्ष्योन्मेष के साथ-साथ यह संचारी भावराज्य चूर्ण हो जाता है। इस प्रकार के असंख्य भावलोक भक्ति का आभास और इष्ट का आभास वहन करते हुये मायातीत स्तर में विद्यमान हैं। प्रकृत योगी भाव के इस घूर्णन में पतित नहीं होते। वे सरल पथ से अमृतधारा अथवा अमृतसरोवर पर्यन्त गमन करते हैं, एवं उसे उत्तीर्ण कर अमृत सरोवर के परपार क्ष्योन्मेष की चेष्टा में निरन्तर व्यापृत रहते हैं। इस अमृत सरोवर का शुभ्र सलिल, जल नहीं अपितु अमृत है। देखने में यह दुग्ध के समान और आस्वादन में अति मधुर है और इसकी सुगन्ध अत्यन्त आकर्षक है। सरोवर पार करने पर भी इस अमृत पान का अधिकार नहीं प्राप्त होता। दीर्घ प्रयत्न के फलस्वरूप भ्रूमध्य स्थल उन्मुक्त करने पर इस अमृत पान का अधिकार प्राप्त होता है। समस्त योगीगण उत्तराभिमुख महाप्रस्थान मार्ग की ओर दृष्टि केन्द्रित कर अन्तर्दृष्टि खोलने की चेष्टा करते हैं। उन्हें एक श्वेत प्राचीर के समान शुभ्र आकाश सम्मुख प्रतीयमान होता है। इस शुभ्र आकाश के मध्य एक सूक्ष्म छिद्र है। यह छिद्र एक केश के करोड़वें भाग के समान सूक्ष्म है। यह छिद्र हठात् उन्मुक्त होता है। छिद्र के अपरपार से एक क्षीण रश्मि की धारा तीव्र वेग से समागत हो उत्तराभिमुख योगी के भ्रूमध्य में प्रविष्ट होतो है और उस स्थान पर ( तृतीय नेत्र ) तीव्र वेग से पुनः पुनः आघात करती है। इसके साथ-साथ रश्मि तरंग प्रत्यावृत हो छिद्र भेद करती रहती है। कुछ काल तक इस प्रकर बाह्यरश्मि एवं योगी के भ्रूमध्यस्थ विन्दु में घात-प्रतिघात चलते-चलते अकस्मात् ज्ञान-नेत्र खुल जाता है। इसका नाम है लक्ष्य का उन्मेष। इस स्थिति में योगी का समस्त शरीर इस लक्ष्योन्मेष के साथ ही मानो एक लक्ष्य में मिश्रित हो जाता है। अब एकमात्र एक लक्ष्य अवशिष्ट रह जाता है। योगी की काया नष्ट नहीं होती किन्तु अन्य स्थानों से उसका केन्द्रीभूत संकोच हो जाता है। कहीं भी कोई स्थान रिक्त नहीं रह सकता। अतएव अन्य योगीगण इस रिक्त स्थान में आकर पूर्वोक्त प्रणाली से उपवेशन करते हैं। लक्ष्य क्या है ? लक्ष्य देखने में एक अति क्षुद्रायतन ज्योतिर्मय नरमूर्ति के समान है। इसे अंगुष्ठ परिणाम भी कह सकते हैं। उसका सर्वावयव प्रकाशमय होता है। लक्ष्यरूप ज्ञान का उदय हो जाने पर यह दिव्य आकृति अमृत सरोवर के अमृतपान को अधिकारी होती है। अमृत-पान एवं अमरत्व प्राप्त करने के पश्चात् वह दीर्घकालीन तपश्चर्याजनित ग्लानि से मुक्ति प्राप्तकर उक्त छिद्रपथ के उस पार चली जाती

है। इस प्रकार गुरुराज्य का भेदन हो जाता है। इसी का नाम भाव का विकास या भावराज्य में प्रवेश है।

गुरुराज्य के समान ही ज्ञानगंज से भी भावराज्य में प्रवेश की विधि है। ज्ञानगंज योगाश्रम में योग साधना समाप्त कर सिद्धाश्रम में उपनीत होना होता है, तत्पश्चात वहाँ से लक्ष्य उन्मेष के साथ भावराज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। ज्ञानगंज एवं गुरुराज्य के जिन योगियों की गति का वर्णन है, वे अमर काया के योगी हैं। मरदेहधारी योगी भी लक्ष्यभेद कर भावराज्य में प्रवेश कर सकते हैं। मरदेहावस्थान काल में ही भावराज्य में प्रवेश कर लेना श्रेष्ठतर है। इस स्थिति में दृश्य सत्ता पूर्व के समान नहीं रह जाती, क्योंकि अब बाह्यजगत से अन्तर्जगत में प्रवेश हो जाता है। अन्तर्जगत में लक्ष्य सरल गति से अनुभूत होता है। एक ही पथ पर शताधिक पथिक चलते रहते हैं, तथापि कोई किसी को देख नहीं सकता। उस समय पथिकों की दृष्टि एक लक्ष्यरूपा हो लक्ष्य पर ही पड़ती रहती है, द्वितीय कोई भी वस्तु दृष्टिपथ पर अंकित नहीं हो सकती। दृष्टि के सम्मुख जो भासित होता रहता है, मात्र उसी ओर दृष्टि आबद्ध रहती है। अन्तर्जगत की एकमात्र भूमि में प्रवेश करने पर दृश्यरूप विविध सत्ता की भासमानता नहीं रहती, अन्यथा उस स्थिति में वह अन्तर्जगत न होकर बहिर्जगतरूपेण परिगणित होने योग्य होता। वह एक प्रकार से विक्षिप्त अवस्था ही होती। एक दृष्टि से प्रति लक्ष्य का पथ अलग अलग है, तथापि वास्तविक रूप से पथ एक ही है। इसी एक पथ का आश्रयण कर सब अग्रसर हो रहे हैं। उच्च भूमि स्थित तटस्थ द्रष्टा के अतिरिक्त कोई भी इस रहस्य को नहीं जान सकता।

माँ का राज्य कमलरूप है। उसका समस्त पथ कमलदल रूप है। मानो कमल की पंखुड़ियों से समस्त पथ की रचना की गई हो। माँ का राज्य एक कमल के समान है। दल के विभिन्न स्तर हैं और मध्य में कर्णिकारूपी बिन्दु है। बिन्दु ही आसन है। जो इस आसन पर समासीन है, वे माँ हैं। दल के बाहर ज्योति विराजित है। प्रत्येक भूमि में इस प्रकार के भिन्न राज्य विद्यमान हैं। प्रत्येक स्थान की प्रकृति, ज्योति एवं वैचित्र्य विभिन्न है।

## गति

योगी का प्रधान कर्तव्य है बहिर्जगत से अन्तर्जगत में प्रवेश कर, अन्तर्जगत के बाह्यांश से अन्तर्मुखी गति ग्रहण कर क्रमशः अन्तरमय बिन्दु अथवा केन्द्र में प्रविष्ट होना। बाह्यजगत अज्ञान बहुल है। बाह्यदृष्टि भी अज्ञान से युक्त है। इसलिये सर्वप्रथम इस अज्ञान दृष्टि का त्याग कर ज्ञानदृष्टि के अवलम्बन से अन्तर्जगत में प्रवेश करना होगा। अन्तर्जगत ही भावराज्य या हृद है। भाव का विकास, लक्ष्य का उन्मीलन, हृदय प्रवेश और अन्तर्जगत में गति प्राप्ति, सब एक ही बात है।

पहले जो कुछ कह आया हूं, उससे स्पष्ट है कि कर्म के प्रभाव से इस भाव-राज्य में प्रवेश करने से उपयोगी लक्ष्य उन्मीलित होता है एवं भाव देह प्राप्त होती है। जब तक यह प्राप्ति न हो, तब तक तदुपयोगी साधनस्वरूप कर्म करना अत्यावश्यक है। योगी एवं साधक का पार्थक्य यह है कि मरदेह-अवस्थान काल में लक्ष्योन्मीलन सम्बन्धी कर्म अपूर्ण रह जाने पर भी योगी को कर्म पूर्ण करने का अधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि यह प्रकृत कर्म नहीं गौण कर्म है, क्योंकि मरणान्त में अमरदेह प्राप्त कर जो कर्म किया जाता है, वह तीव्र संवेग सम्पन्न नहीं होता। फिर भी वह कर्म है। उससे लक्ष्य का उन्मीलन एवं भाव प्रवेश यथावत संघटित होता है। योगीगण देहान्त के पश्चात् आश्रय और काया प्राप्त करते हैं, अतः अवशिष्ट कर्म समाप्त करना सम्भवपर होता है। साधक के लिये ( लक्ष्योन्मीलन के पूर्व ही देहस्थिति भंग हो जाने पर ) योगी की तरह बोधपूर्वक लक्ष्योन्मेष घटित नहीं होता। साधक का लक्ष्योन्मेष और चिदाकाश प्रवेश कार्यतः विभिन्न है और व्यवहृत होने पर दोनों में ( लक्ष्योन्मेष एवं चिदाकाश में ) पार्थक्य अनुभूत नहीं होता। अज्ञातरूप से व्यवधान कट जाने से चिदाकाश प्रवेश प्राप्त होता है। वर्तमान प्रसंग में साधक की आलोचना नहीं, अपितु योगी की आलोचना ही कर्तव्य है।

भाव में प्रवेश के साथ-साथ एक लक्ष्य प्रतिष्ठित होता है और लक्ष्य की अनुगामी गति चलती रहती है। किसी वृत्ताकार गोलक के बहिर्देश से उसके केन्द्र की ओर आवर्तक्रम से चलने पर क्रमशः केन्द्र तक स्थिति प्राप्त हो सकती है। भाव से योगी की अन्तर्मुखी गति प्रारम्भ होती है। जब तक उस गति का अवसान नहीं होगा, तब तक भाव की प्रतिष्ठा महाभाव तक नहीं होती। भाव परिधि बिन्दु है एवं महाभाव केन्द्रबिन्दु। आवर्त्तक्रम अथवा सरल गति में परिधिबिन्दु से केन्द्र बिन्दु तक पहुंचना ही योगभूमि भेद और योगसिद्धि संज्ञा से अभिहित है। यह खण्ड योगी की स्थिति है। महाखण्ड-योगी की धारा में भाव से महाभाव में गति का पर्यवसान नहीं होता। महाखण्ड योगी की गति में भाव का परमाप्रकृति में पर्यवसान होता है। इसमें भी एक रहस्य विशेष रूप से ज्ञातव्य है। महाभाव प्राप्ति के समय यदि कोई योगी नाभिमार्ग में महाज्ञान प्राप्त कर परमाप्रकृति की ओर गति को प्रतिष्ठित कर सके, उस स्थिति में परवर्ती दुर्बल योगी भी महाभाव के पश्चात् परमाप्रकृति पर्यन्त उत्थान कर वहाँ विश्राम करने में समर्थ होंगे। परमाप्रकृति के राज्योद्घाटन का भार नाभिचक्र भेदी महाखण्ड योगी के ऊपर है। अभी तक परमाप्रकृति का राज्य उद्घाटित एवं उन्मुक्त नहीं है, इसी कारण महाभाव ही योगी की स्वभूमि है। वास्तव में इस समय महाभाव अथवा परमाप्रकृति, दोनों के मध्य कोई भी भेद परिलक्षित नहीं होता। कारण जिस अवस्था में योगी स्वभूमिरूप स्थान प्राप्त करता है, उसी स्थान से ही अन्तर का आवेष्टन उसे घेर लेता है। इसी नियम के अनुसार महाभाव का कर्म समाप्त होने के पश्चात् महाभाव का आवेष्टन उसे घेर लेता है। महाभाव के पश्चात् क्या है? इसका संधान उसे नहीं मिलता।

महाभावराज्य के सब ओर ( दशों दिशाओं की ओर ) एक अखण्ड ज्योति विद्यमान रहती है। यदि नाभिचक्र भेदी योगी के प्रभाव से परमाप्रकृति का राज्य उद्घाटित हो सके, उस स्थिति में वही राज्य तत्काल योगी के स्वस्थान रूप से परिगणित होगा। वह स्थान भी चारो ओर एक अनन्त ज्योति से वेष्ठित परिलक्षित होगा। परमाप्रकृति का राज्य आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति का स्थान है। जो योगी महाखण्ड गुरु कृपा से यहाँ स्थान प्राप्त करते हैं, उनका समस्त अभाव चिरकाल के लिये समाप्त हो जाता है। महाभाव और परमाप्रकृति दोनों एक ही स्थिति के दो पृष्ठ देश हैं। इन स्थानों पर अभाव की स्थिति नहीं होती। वास्तव में यही भगवत् धाम है। यह समग्र विश्व के अत्यन्त ऊर्ध्वदेश में अवस्थित है।

अमर राज्य से भी ऊर्ध्व में इसकी अवस्थिति है। इसके पश्चात् भी कहीं गति होगी? यह प्रश्न उत्थित नहीं होता। इसी स्थान पर कर्म एवं गति का अवसान होता है (परन्तु वास्तव में ऐसा भी नहीं है)। आज तक मरदेहावस्थान काल में कोई भी परमाप्रकृति के इस राज्य में नहीं जा सका। जब तक मरदेह में स्थित रहते-रहते यह स्थान विजित नहीं होता, तब तक अमरदेही योगीसत्ता इस स्थान को कैसे प्राप्त करेगी? इसी कारण परमाप्रकृति का यह राज्य आज तक एक अतिगुह्य स्थान रूप से उल्लिखित है। आज तक महाभाव राज्य ही अन्तर्जगत के चरम बिन्दु रूप से गृहीत होता रहा है। श्रेष्ठ योगीगण महाभाव पर्यन्त ही उत्थित होते है। वही योगियों का ब्रह्मपद है। साधक का ब्रह्मपद है चिदाकाश। वास्तव में महाभाव के स्रोत में पड़कर परमाप्रकृति के राज्य में गति एवं स्थितिलाभ ही अन्तर्मुखी गति की चरम सार्थकता है। नाभिचक्र भेदी योगी की चेष्टा से परमाप्रकृति का राज्य उन्मुक्त हो चुका है, इसी कारण यह प्रसंग वर्णित है।

बहिर्जगत से विक्षिप्त दृष्टि एकाग्र कर लक्ष्योन्मेष के फलस्वरूप जब अन्तर्जगत या हृदयराज्य उन्मीलित होता है (अर्थात् हृदय पुण्डरीक विकसित होता है) तब क्रमशः हृदय-केन्द्र की ओर गति वर्द्धित होने लगती है। लक्ष्य या आनन्द के परमस्वरूप का, (परमाप्रकृति) इष्ट के अन्तरतम स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होने के साथ-साथ अन्तर्मुखी गति का अवसान हो जाता है। वास्तव में ब्रह्म का स्थान इससे अतीत है। चतुर्दिक जो अखण्ड महासत्ता प्रतिभासमान हो रही है, और जिसके सम्बन्ध में कुछ भी निर्दिष्ट रूप से कहना संभव नहीं है, वह वस्तुतः ब्रह्म है। वह सृष्टि से अतीत है। बाह्यजगत एवं अन्तर्जगत दोनों से अतीत है। मोहमाया, महामाया एवं महामहामाया से भी अतीत अनन्त परम सत्ता है। वह असंगरूपेण अनासक्त भाव से सर्वत्र विद्यमान है, अथच वह सबसे अतीत है एवं एक प्रकार से वह कहीं भी नहीं है। कर्मद्वारा उसकी उपलब्धि नहीं होती। महालक्ष्यरूपी सम्यक् ज्ञानद्वारा भी उसकी उपलब्धि नहीं होती। किसी भी उपाय से उसे आयत्त कर सकना सम्भव नहीं। जीव का पुरुषकार उसे निजस्व नहीं कर सकता। परमात्मा की कृपा द्वारा भी उसे आयत्त करना संभव नहीं। वह एक साथ सत् एवं असत् है, अथच उभयातीत भी है। वह क्या है? यह कह सकना संभव नहीं। वह क्या नहीं है? इसका भी विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इस ब्रह्मवस्तु को बोध के साथ आयत्त करना मानव जीवन का उद्देश्य है। हम परमाप्रकृति के राज्य में जिस अचिन्त्य, अनन्त, अस्फुरन्त आनन्द का

संधान प्राप्त करेंगे, वह भी ब्रह्मवस्तु की समृद्धि और महिमा की तुलना में वैसी ही है, जैसे महासिन्धु की तुलना में बिन्दु मात्र जल। आज तक कोई भी योगी देहावस्थान काल में, ( अर्थात् चेतनसत्ता की स्थिति में ) इस वस्तु को धारण करने में समर्थ नहीं हो सके। वह सुदूर स्वप्न की भाँति ( परम पद की संज्ञा से ) महायोगी एवं महर्षियों के ग्रन्थादियों में वर्णित हैं। दिव्यसूरिगण विष्णु के जिस परमपद का निर्निमेष दृष्टि से दर्शन करते रहते हैं, वह वस्तुत: इस ब्रह्मपद से भिन्न और कुछ भी नहीं है। परमाप्रकृति के राज्य से इसका अनन्त व्यवधान है। वह, वहाँ से कितनी दूर है, इसका निर्णय कर सकना असंभव है। वह सुदूरवर्ती होने पर भी सर्वत्र समभाव से विद्यमान है।

अन्तर्गति का पर्यवसान हृदय के मध्यविन्दु में होता है, तत्पश्चात् अन्तर्गति भी नहीं रह जाती। भाव प्रवेश के साथ साथ जैसे बाह्यजगत का निरोध हो जाता है, उसी प्रकार महाभाव अथवा परमाप्रकृति का भेद करने के पश्चात् आन्तर ज्ञान भी निरुद्ध हो जाता है। भीतर और बाहर एक न होने तक, एक समान प्रकाशित न होने तक, अखण्ड ब्रह्मसत्ता को धारण कर सकना संभव नहीं है। मायाराज्य अथवा महामाया राज्य में गति है, अत: योगी के लिये एक भूमि से अन्य भूमि में एवं एक अवस्था से अन्य अवस्था में अग्रगति संभवपर है। बहिर्जगत एवं अन्तर्जगत में एक ही गति है। भेद है केवल मात्र दिशा का। अन्तर्जगत भेदन का सामर्थ्य होते ही गति की स्थिति नहीं रह जाती। अन्तर्जगत भेदन, दु:साध्य कार्य है, कारण आज तक उसमें कोई समर्थ नहीं हो सका। लेकिन वही योगी का आदर्श है। जैसे बहिर्जगत का भेदन न होने तक लक्ष्य उन्मिषित नहीं होता और अन्तर्जगत में प्रवेश प्राप्त नहीं होता, अन्तर्जगत् भेदन न होने तक प्रकृत सत्य की प्राप्ति नहीं होती। प्रकृत सत्य में बाह्याभ्यान्तर का भेद नहीं रह जाता। द्वन्द्व-विरोध, अतीत और अनागत नित्य वर्तमान में साम्य लाभ करते हैं। मैं और तुम का व्यवधान चिरकाल के लिये अस्तमित हो जाता है। देहावस्था में ही अन्तर्जगत भेदन आवश्यक है, अन्यथा भेदन करने की संभावना नहीं रह जाती। अन्तर्जगत् भेदन के पूर्व ( अन्तर्जगत्के मध्यविन्दु में प्रवेश के पूर्व ) देहत्याग हो जाने पर परमाकृति के राज्य में कमलदल के मध्य स्थान प्राप्त होता है। परमाप्रकृति के राज्य को देहावस्था में महायोगी के अतिरिक्त कोई भी अतिक्रम नहीं कर सकता। यदि अतिक्रम हो जाये, तब भी काल निवृत्त न होने तक देहान्तर की संभावना रहती है और देहान्त हो जाने पर वह स्वयं

परमाप्रकृति रूप से नित्य प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। जब तक अन्य कोई योगी इस प्रकार की अवस्था प्राप्त करने के योग्य नहीं होगा तब तक उक्त अधिकार सम्पन्न होकर वे अवस्थान करेंगे। वस्तुतः उनका ऐश्वर्य और सत्ता, दोनों नित्य है, किन्तु ब्रह्मावस्था का उत्कर्ष प्राप्त करना संभव नहीं होता। इसका एक मात्र कारण यह है कि देहावस्था में मात्र अन्तर्जगत भेदन से ही काल का विक्रम समाप्त नहीं होता। परमाप्रकृति राज्य जैसे कालराज्य के अन्तर्गत है, वैसे ही परमाप्रकृति के बाहर संधि-भूमि में भी काल किंचित विद्यमान है। एक-मात्र ब्रह्म ही कालातीत है, अतएव अन्तर्जगत भेदन मात्र से महायोगी की कार्यसिद्धि नहीं होती। तत्पश्चात् मरदेहावस्थान काल में ही कर्महीन कर्म अर्थात् आत्मकर्म या स्वकर्म सम्यक् प्रकार से सुसिद्ध होते ही भाव और गुणमिलन के साथ-साथ महामाया और ब्रह्मसत्ता का मिलन हो जाता है। अन्तर्जगत् अति-क्रान्त होने के पश्चात् गति या कर्म नहीं रह जाता, तथापि किंचित रह भी जाता है। यह गतिहीन गति या कर्महीन कर्म ही महामाया और ब्रह्म का अभेद सूत्र है। देहान्त में यह संभव नहीं होता। इसलिए परमाप्रकृति राज्य भेदन करने के पश्चात् भी देह रहते-रहते इसे सम्पन्न करना होगा। जिस चतुर्दिक अखण्ड ज्योति का वर्णन किया गया है, जो परमाप्रकृति राज्य को घेर कर विद्यमान रहती है, वह दृष्टिगोचर नहीं होती। परमाप्रकृति का राज्य भी दृष्टि-गोचर नहीं होता। उस स्थिति में योगी स्वभूमि को ही ब्रह्म भूमिरूपेण पहचानता है। तब कालराज्य अथवा मायिक राज्य, कुछ भी नहीं रह जाता। ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित कोई पृथक वस्तु भी नहीं रह जाती। उस समय योगी ही ब्रह्म है। महामाया उसकी आश्रिता है। इस अवस्था में स्वातंत्र्योन्मेष का सूत्र-पात होता है। इसका विशेष विवरण अखण्ड महायोग पुस्तक के प्रसंग में उल्लिखित हो चुका है।

प्राचीन वैष्णव मत में जैसा वर्णन है ठीक उसी प्रकार योगमार्ग में भी सर्व-प्रथम भावप्रवेश के साथ-साथ भावदेह की प्राप्ति होती है। यह देह योगी का स्वरूप है। वस्तुतः यही मातृस्वरूप है। अतएव जिसे इष्ट कहा जाता है, योगी स्वयं तद्रूप परिणाम की प्राप्ति करता है। जैसे शिव होकर शिव की उपासना की जाती है, वैसे स्वयं चिदानन्दमयी प्रकृति का स्वरूप धारण कर जड़ परिणाम विवर्जित अखण्ड तारुण्यमय अनन्त उल्लास से उल्लसित चिदानन्दमयी प्रकृति स्वरूप धारण कर स्वयं परमस्वरूप प्राप्त करने के लिए ( अंश जिस प्रकार अंशी

को प्राप्त करने की चेष्टा करता है ठीक उसी प्रकार ) वह भावराज्य में स्वयं अग्रसर होता है। इस गति का अवसान जिस बिन्दु पर होता है वह वस्तुतः इष्ट स्वरूप है। यही लक्ष्य का अवसान है। इसके पश्चात है अलक्ष्य। वह है आनन्द के अतीत, इष्ट के अतीत एवं कर्म के अतीत। अथच उसमें सब कुछ विद्यमानहै। सर्वप्रथम आश्रय एवं अन्त में विषयतत्व आत्मप्रकाश करता है। इसकी परावस्था में आश्रय और विषय, दोनों के मिलन से जिस सामरस्य का उदय होता है, उसके प्रभाव से ब्रह्मतत्व धारण करने की शक्ति जन्म लेती है। प्रचलित वैष्णव परिभाषा में कहने पर इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि आश्रय है भक्त या योगी स्वयं एवं विषय है भगवान या माँ स्वयं। दोनों का मिलन सिद्ध होने पर भक्त और भगवान का पृथक भाव नहीं रहता। दोनों की पृथक सत्ता विगलित होकर एक अखण्ड रसमय में पर्यवसित होती है। उसी स्थिति में बलाधान होता है एवं ब्रह्म को धारण करने की योग्यता प्राप्त होती है। इसके पूर्व योग्यता प्राप्त नहीं होती।

## समापन

भक्त के साथ भगवान की नित्यलीलामयी कथा महाजनों की वाणी में उल्लिखित है। वह नित्यलीला वास्तव में परमाप्रकृति के राज्य में ही घटित होती है। वह वास्तव में ब्रह्मावस्था नहीं है, क्योंकि ब्रह्म लीलातीत है। वैष्णवगण भी योगमायारूपा मातृशक्ति द्वारा लीला की वर्णना करते हैं। कोई-कोई वैष्णवाचार्य श्रीशक्ति और भूशक्ति की तरह लीलाशक्ति नामक एक पृथक् शक्ति को स्वीकार करते हैं, उसकी आलोचना यहाँ पर अप्रासंगिक है। संक्षेप में परमाशक्ति बिना लीला नहीं हो सकती।

मैंने लक्ष्य, कर्म और सेवा का उल्लेख किया है। महायोग में युगपत् रूप से इन तीन की आवश्यकता स्वीकृत की गई है। साधक और योगी की उपलब्धि

का पारस्परिक भेद पुस्तक में वर्णित है किन्तु उसके रहस्यांचल पर अभी प्रकाश नहीं पड़ा है। वास्तव में जिसे हम श्वास प्रश्वास कहते हैं उसके साथ कर्म एवं अनुभूति का अति घनिष्ट सम्बन्ध है। जब तक श्वास प्रश्वास का तत्व स्पष्टरूप से हृदयंगम नहीं होगा, तब तक कर्म एवं ज्ञान का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता। साधारण जीव की, साधक की ओर योगी की श्वासगति में परस्पर वैलक्षण्य है। जीव काल से श्वास ग्रहण करता है, अर्थात् बहिःस्थित काल राज्य से श्वास का आकर्षण करता है। आकर्षण करती है जीव की दृष्टि अर्थात् चक्षुबिन्दु। इस बिन्दु में अति तीव्र आकर्षण शक्ति विद्यमान है। इसके प्रभाव से कालशक्ति से वायु श्वसनरूप से जीवदेह में प्रविष्ट हो जाती है। साधारणतया कोई भी इस रहस्य को नहीं जानता। यह वायु, दृष्टि के साथ-साथ देहाभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर जिह्वा के निम्न प्रदेश में स्थित सितार के तार के समान विस्तार युक्त तन्तुसमष्टि में अवतीर्ण होती है। यह तन्तुसमष्टि गुच्छाकृति में वर्तमान है। जिस वायु को आर्कषित करने का उल्लेख किया गया है, वह वस्तुतः काल का अणु है। इसी कारण इन तन्तुगुच्छ को श्वास का तार अथवा काल का तार कहा जाता है। इस स्थान से, इन तन्तुओं के सहयोग से, यह समस्त अणुरूपी वायु क्रमशः नीचे की ओर संचारित होकर नाभिकेन्द्र में उपस्थित होती है एवं वहीं निरन्तर घूर्णित होती है। इसके पश्चात् नाभिदेश से होकर इसकी एक धारा उर्ध्वगामी हो देह के सम्मुखीन वाम पंजर के नीचे निरयहृद नामक स्थान विशेष में उत्थित होती है। दूसरी ओर नाभिचक्र के नीचे अपांग स्थान से होकर एक ताप निरन्तर निर्गत हो रहा है। वह भी स्वभावतः ऊर्ध्वगामी होकर 'निरयस्थान' रूपी हृद में प्रवेश करता है। तत्पश्चात पूर्वोक्त वायु एवं यह ताप-परस्पर संयुक्त होकर निरयस्थान का भेदन कर श्वासयंत्र में प्रविष्ट होता है। श्वासयंत्र सूक्ष्म छिद्र सम्पन्न है। यह वायु अब श्वासयंत्र के छिद्र का भेद कर, श्वासयंत्र से उत्क्रान्त हो, सर्वप्रथम कंठदेश, तत्पश्चात् तालू के मूल स्थान तक गमन करती है। तालू के मूल स्थान से होकर प्रश्वासरूप से निर्गत होती है। बहिर्गमन का द्वार है मुख या नासिका। मुख द्वारा वायु का निर्गम अत्यन्त अशुभकर है। इसके फलस्वरूप मृत्युकाल सन्निहित होता है। मुख से निर्गत वायु का काल आकर्षण कर लेता है। काल को जितना प्राप्य है, उससे अधिक का मुख द्वारा काल में निर्गमन हो जाता है। इस कारण निर्दिष्ट समय से पूर्व, जीवन की धारा अवसान की ओर उन्मुख हो जाती है। निर्गम का प्रकृत द्वार है नासिका। यथाविधि नासिका द्वारा निर्गत वायु कर्मशक्ति के स्तर में नियुक्त हो जाती है। काल उसका ग्रसन

करने में अक्षम रहता है। इसका प्रधान लाभ यह है कि यदि कभी पूर्वोक्त जीव कर्म-पथ पर गतिलाभ करे एवं कर्म में प्रवृत्त हो, ऐसी स्थिति में कर्म के परदों द्वारा वायु का आकर्षण किया जा सके। यदि किसी की वायु आंशिक रूप से नासिका एवं मुख दोनों द्वारों से निर्गत होती है, उस स्थिति में वह सत्कर्मफल प्रसवित नहीं करती। कारण वह काल के साथ सम्बन्धयुक्त होकर तेजहीन हो जाती है। साधारण जीव का श्वास-प्रश्वास इसी प्रकार का होता है।

साधक की श्वासधारा में किंचित वैचित्र्य परिलक्षित होता है। नाभि कुण्ड से वायु का एक प्रवाह एवं अपांग से ताप का एक प्रवाह निरयस्थान में जाकर मिलित होता है। तत्पश्चात् साधक की वायु निरयस्थान का त्याग कर श्वासयंत्र की ओर उत्थित नहीं हो पाती। वायु के परिवर्तन से पूर्वोक्त ताप ऊर्ध्वगामी होकर श्वासयंत्र में प्रवेश करता है। फलस्वरूप श्वासयंत्र शुष्क हो जाता है। कर्मावस्था के विकास के साथ-साथ साधारण जीव की तुलना में साधक का यह वैलक्षण्य प्रतिष्ठित होता है। ताप के प्रभाव से श्वासयंत्र अत्यन्त शुष्क हो जाता है। दीर्घकाल में इस शुष्कता की पराकाष्ठा सम्पन्न होने पर इस स्थान से एक ज्योति का आविर्भाव होता है। यह ज्योति अत्यन्त विशाल ज्योति है। इसका आदि अन्त परिलक्षित नहीं होता। साधक इसे आत्मज्योति मानते हैं। यह आत्मदर्शन की एक अवस्था है, तथापि यह वास्तविक आत्मदर्शन नहीं है।

इस ज्योतिदर्शन के पूर्व कुम्भक अवस्था का उदय होता है। यह योगशास्त्र में वर्णित कुम्भक से अलग प्रकार का है। कारण श्वास अथवा वायु के रोध से यह कुम्भक नहीं होता। यह ताप का रोध मात्र है। वायु इस समय अभिभूत हो जाती है। वास्तव में खेचरी भाण्ड से निरन्तर अमृत क्षरण हो रहा है। यह वही है। खेचरी भाण्ड के ऊपर जो सूक्ष्म जाल विद्यमान है, उसी से यह अमृतक्षरण होता है। इस स्थान से जो अमृत क्षरित हो रहा है, साधक के लिए वही आत्मोपलब्धि रूप प्रतीयमान होता है। यह शुद्ध अमृत है। अतएव इसके दर्शन के समय साधक ठीक-ठीक उपलब्धि की रक्षा नहीं कर पाता। साधक का आधार बल अत्यल्प है। यद्यपि साधक का यह दर्शन आत्मदर्शन रूप से प्रतीत होता है, तथापि यह जीवनी-शक्ति का साक्षात्कार है। अमृत एवं जीवनी-शक्ति

परस्पर अभिन्न वस्तु हैं। तत्पश्चात् साधक अपनी दृष्टि को ऊर्ध्वगामी कर भ्रूमध्य की ओर लक्ष्यस्थापना करता है। इस समय श्वास वायु सूक्ष्म रूप से निर्गत होने लगती है। इस निर्गम का स्थान है चक्षु का बाह्य कोण, किन्तु तब साधक अनुभव करता है कि उसका योग सहस्त्रार से स्थापित हो गया। वास्तविकतया यह सहस्त्रार से योग नहीं, अपितु मात्र बाह्यदर्शन है। ज्योति के साथ ज्योति का मिलन है। बाह्य ज्योति के साथ आन्तरिक ज्योति का मिलन होते ही साधक का अन्तिम प्रश्वास निर्गत हो जाता है। यह साधक की सिद्धावस्था है तब उसका देहसम्बन्ध नहीं रहता एवं चिदाकाश में विशाल ज्योतिरूप से स्थित हो जाता है। यह सहस्त्रार में स्थिति नहीं है। एकमात्र योगी ही सहस्त्रार में स्थित होने में समर्थ है। कारण योगी जाग्रत कुण्डलिनी युक्त है। वह जाग्रत कुण्डलिनी ( गुरुदत्त काया ) लेकर कर्मक्षेत्र में अग्रसर होता है। साधक की कुण्डलिनी जाग्रत नहीं है और उसके पास गुरुदत्त काया भी नहीं है। वह देह-त्यागोपरान्त गुरुदत्त काया प्राप्त करता है। देहत्यागपूर्वी समस्त कर्म उक्त गुरुदत्त काया के निर्माण में पर्यवसित हो जाते हैं। जब तक देहावस्थान काल में गुरुदत्त काया प्राप्त नहीं होगी तब तक सहस्त्रदल की प्राप्ति नहीं होती। ज्योतिप्राप्ति अथवा ज्योतिप्रवेश के लिये गुरुदत्त काया आवश्यक नहीं होती। साधक द्वारा उपलब्ध पूर्ववर्णित कुम्भक प्रकृत कुम्भक नहीं है।

## योगनिद्रा स्थित जीवगण

जो जीव योगनिद्रा से अर्थात् काल के अन्धकार में सुप्त चैतन्यावस्था में स्थित हैं, उनका खण्डगुरु ( अर्थात् मरदेहावच्छिन्न चैतन्य ) उद्धार करने में समर्थ नहीं होते। खण्डचैतन्यधारी गुरु संस्कार तो कर सकते हैं, परन्तु आधान नहीं कर सकते। यदि किसी में धारण करने की शक्ति हो तभी उसका संस्कार करके उसे योग्यता सम्पन्न कर सकते हैं, और संस्कार द्वारा उसमें चैतन्य की यथावत् अभिव्यक्ति हो सकती है। विपर्यय यह है कि खण्डगुरु नूतन आधार की सृष्टि

करने में असमर्थ हैं। नूतन आधार में अमृतदान करने में भी असमर्थ हैं। स्वयं काल के अधीन रहकर ( अर्थात् मरदेह में रहकर ) काल के आवर्त से किसी को उठा देना संभव नहीं हो सकता। ये सब अचेतन जीव एकमात्र महाप्रलयकाल में चैतन्य प्राप्त करेंगे। इसका कारण क्या है ? महाप्रलय किसे कहते हैं ? महा-प्रलय का प्रयोजन क्या है ? उसका परिणाम क्या है ? इस प्रसंग में इन प्रश्नों का उदय अस्वाभाविक नहीं है।

जहाँ से सृष्टि हो रही है, वहीं से प्रलय का उदय होता है। सृष्टि के मूल में जो एक और अभिन्नरूपेण है, वही सृष्टि के फलस्वरूप बहुः और भिन्न रूप से प्रकाशित होता है। सृष्टि निरन्तर हो रही है अतएव एक की ही बहिर्मुखी एवं बहुमुखी दृष्टि निरन्तर विद्यमान है। ये सब जीव काल के राज्य में आगमन कर, कुछ समय पर्यन्त सुख-दुख का भोग कर पुनः काल के घेरे में चले जाते हैं। जाग्रत स्वरूपी इन सब जीवों का जाग्रत स्वभाव किंचित परिमाण में भी उद्वृत्त नहीं है, अतएव ये मूल चैतन्य में वापस जाने में असमर्थ हैं। यदि किंचित परि-माण में चैतन्य का उन्मेष हो, तब भी उस अनुपात में मूल बिन्दु के साथ अज्ञात रूप से सम्बन्ध स्थापना हो सकती है ( इनका स्वरूपभूत चैतन्य योगनिद्रा से कालराज्य में आते समय कलंकित हो गया है। अतः जब किंचित परिमाण में भी वह कलंक अपनीत हो सकेगा तभी ये महाचैतन्य को प्राप्त कर सकेंगे )। यद्यपि उन्हें किंचित् परिणाम में चैतन्य प्राप्त हो जाने की उपलब्धि नहीं रहेगी, तथापि उनके स्वरूप की स्थिति मूल स्थान में होगी, काल के घेरे में नहीं होगी। यदि चैतन्य का उद्रेक नहीं होगा, वैसी स्थिति में निद्रित सत्ता और चैतन्य सत्ता का कैसे मिलन होगा ? अतएव सुप्त जीव यद्यपि ब्रह्म से अभिन्न हैं, तथापि मृत्यु के पश्चात् योगनिद्रा में सुषुप्ति के अन्तर्गत पड़ रह जाते हैं। जब तक सुषुप्ति-मय राज्य भंग नहीं होगा, तब तक उनके जाग्रत होने की कोई संभावना नहीं।

काल आवर्तनशील है। वहीं से धारा निकलती है और जब वहाँ तक धारा वापस पहुंचती है, तभी आवर्तन प्रशमित होता है। जीव देह ग्रहण कर कर्मभूमि में कर्म करने का अधिकारी होता है। कर्म करने पर जिस अनुपात में कर्म पूर्ण होता है, उसी प्रकार कर्मानुरूप कर्मदेह में प्रत्यावर्तन करता है। अर्थात् ज्योतिर्मय खण्डगुरु से दीक्षा काल में, अथवा चैतन्य संस्कार काल में जिस ( लक्ष्यरूपी ) शुद्धकाया को प्राप्त किया था, वह कृतकर्म के

अनुपातानुसार उद्‌गम स्थान में प्रत्यावर्तन करती है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से सूक्ष्म में प्रत्यागमन निरन्तर चलता जा रहा है। इस अवस्थानुसार एक ओर निरन्तर सृष्टि हो रही है, और अपरदिक निरन्तर सृष्टि का संहार हो रहा है। सृष्टि एवं संहार, दोनों कालाधीन हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि जो एक बार सृष्टि हो रहा है, वह पुनराय सृष्टिचक्र में नहीं मिलित होता ( अथवा स्थान विशेष में आबद्ध हो जाता है )। वास्तव में आवर्त बहुः नहीं है, एक ही है। इसलिये आत्मा जहाँ से निर्गत है, जब तक वहाँ नहीं पहुंचेगी तब आवर्त्त पूर्ण नहीं होगा। एक बार उस मूल स्थान की प्राप्ति के पश्चात् यह आवर्त्त नहीं रह जाता। जो जीव जड़भावापन्न हैं, उनका मूल स्थान आपाततः योगनिद्रा ही मानना चाहिए। इसीलिये मरणान्त में योगनिद्रा में जाकर आवर्त्तन पूर्ण हो जाता है। उन्हें पुनः मरलोक लौटाना नहीं पड़ता। जो जीव किंचित परिणाम में भी जाग्रत हैं, यद्यपि उनका खण्डभाव है, तथापि वे कर्मयुक्त हैं, यह कहना होगा। आंशिक भाव से उनमें विवेक जाग्रत है। उनकी प्राणमय सत्ता स्वकृत कर्म के अनुपात में महाप्राण से युक्त हो जाती है और स्थूल काया का विनाश होने पर जड़त्वमुक्ति की स्थिति में योगनिद्रा के सुषुप्तिमय राज्य में वे नहीं जाते। उन्होंने जिस परिमाण में कर्मसम्पन्नता प्राप्त की है उसी परिमाण में ज्योतिरूप में परिणत होकर असंगभाव से विद्यमान रहते हैं। योगी के लिये कर्मानुरूप स्तर प्राप्त होता है। योगीगण कायाहीन नहीं रहते। काया यदि हैं तब स्तर भी रहता है। ये सब काया और स्तरसमूह योगमाया के अधीन हैं। साकार होने पर कभी काल द्वारा ग्रसित नहीं होते। प्रलयकाल में भी इनका विनाश नहीं होता। साधक स्तरलाभ नहीं करते। उनके लिये शून्यस्थिति स्वाभाविक है। वहाँ ( निरालम्बावस्था में ) काल की कोई संहार क्रिया परिलक्षित नहीं होती।

यह सब साधारण अवस्था का विवरण है। योगनिद्रा से जो जीव धरातल पर जाते हैं, वे सभी पुनः वहीं लौट जाते हैं, यह सत्य है, तथापि योगनिद्रान्तर्गत अवतरणोन्मुख जीव की संख्या न्यून नहीं होती। कारण, योगनिद्रा से अनुक्षण जीवों का निर्गम होने पर भी निरन्तर ऊर्ध्व से क्षरण होता रहता है। अतः योगनिद्रा में सर्वदा जीवों का आपूरण होता रहता है। कोई भी स्थान रिक्त नहीं रहता। रिक्तावस्था का उदय होने पर ऊर्ध्वक्षरण के फलस्वरूप रिक्त स्थान पूर्ण हो जाता है। इसी कारण सृष्टि एवं प्रलय का प्रवाह अनन्त है,

अर्थात् सृष्टि में भी विराम नहीं, और प्रलय भी विरामविहीन है। यदि किसी कारण विशेष से सृष्टि के मूलस्थान का ( चैतन्य की अधोमुखी दृष्टि से काल के मूल में जो निरन्तर पतन हो रहा है उसमें ) रोध हो सके, तभी योगनिद्रा एक समय रिक्त हो सकेगी, ऐसी संभावना है, क्योंकि उनमें अभिनव जीवों का प्रवेश संभवपर नहीं रहेगा। योगनिन्द्रा स्थित जीवसमूह अवतरणशील हैं, अतः कभी न कभी वह रिक्त होने को बाध्य होगी, और योगनिद्रा के यावतीय जीव योगनिद्रा में लौट आयेंगे।

## महाप्रलय

जो चैतन्य प्राप्त कर महाप्रलय के मार्ग पर पूर्ण चैतन्य की प्राप्ति के लिए अग्रसर हैं उनके सम्बन्ध में विचार अनावश्यक हैं, कारण वे चैतन्यपथ के यात्री हैं। अचेतन जीव मात्र जब कालरात्रि से लौटकर ( संसार से लौटकर ) योग-निद्रा में लौट आयेंगे, तब पुनः किसी नवीन सृष्टि की सम्भावना नहीं रह जायेगी। नूतन जीवों का अवतरण निरुद्ध है, एवं जो जीव एक बार देह ग्रहण करके मृत्यु के पश्चात् लौट जा रहे हैं, उनका पुनः जन्म ग्रहण असम्भव है। इस प्रकार जब योगनिद्रा स्थित समष्टि जीव समूह संसार से लौट जायेंगे, तब महा-प्रलय अवश्यम्भावी है। उस समय समग्र विश्वराज्य भंग हो जाता है। विश्वराज्य की स्थिति है, कर्मी का कर्म कराने के लिए एवं भोक्ता को सुख-दुःख रूपी फल भोग कराने के लिये। जब न तो कर्मी का अस्तित्व रहेगा और न भोग का भोक्ता ही रहेगा, तब निष्प्रयोजन कार्य एवं भोग स्वरूप यह जगत् विद्यमान नहीं रह सकेगा।

जिन तत्व समूह से इस राज्य का गठन हुआ है, वे इसका प्रयोजन समाप्त हो जाने पर अपने मूल उपादान में लीन हो जाते हैं ( देहाभिमानी कर्मी हो जाते हैं )। देहाभिमानी कर्मी और भोक्ता की अनुपस्थिति में तत्व समूह विभिन्न

पदार्थ रूप में बाहर विद्यमान नहीं रह पाते। इसी अवस्था का नाम है महा-प्रलय। इस समय समस्त सृष्टि भंग हो जाती है, और काल का घेरा भी भग्न हो जाता है। काल का घेरा है, विश्वराज्य में परपुरुष की बन्दीशाला। इस अवस्था के उदय के साथ-साथ अनन्त गुरु की दृष्टि योगनिद्रास्थित मूढ़ परमाणु समूह के ऊपर पतित होती है। विश्वराज्य के भंग होने के पूर्व यह घटित होता है। अखण्ड गुरु के दृष्टिपात् से यह समग्र चैतन्यराज्य चैतन्यमय रूप से उद्-भासित हो उठता है। तब योग्यता का विचार नहीं रह जाता। सभी चैतन्यमय स्थान प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में सभी जीवगण ब्रह्मभाव की प्राप्ति करते हैं। यह विदेह मोक्ष की अवस्था है, अतः वे स्वयं मोक्ष या ब्रह्म भाव की प्रकृत उपलब्धि नहीं कर पाते। वे जड़त्व से युक्त हो जाते हैं, यह सत्य है एवं स्वयं प्रकाश महाप्रकाश का अवतरण होता है, यह भी सत्य है, जीव मात्र पर अहैतुकी करुणाकी वर्षा होती है, यह भी सत्य है, किन्तु यह अवस्था होगी कब ? जब महाकाल सन्निहित रहता है, उसके प्राक्काल में, इससे पूर्व नहीं।

इस महाप्रलय के सान्निध्य लाभ का मूल कारण क्या है ? पहले यह कह चुका हूँ कि मूल स्थान से अब तक महामाया की ओर क्षरण हो रहा है ( उस बहिर्दृष्टि का रोध करके अन्तर्मुखता का उदय नहीं होगा ) तब तक यह सम्भव नहीं होगा। अर्थात् जब तक एक भी मनुष्य, क्रम विकास धारा से कर्म पूर्ण करके उस परम स्थान में सन्निहित नहीं होगा, तब तक अन्तर्मुखी दृष्टि का उदय नहीं हो सकता। चैतन्य की बहिर्मुखी दृष्टि है, निग्रह एवं अन्तर्मुखी दृष्टि है, अनुग्रह। अतः यह कहा जा सकता है कि जिस क्षण तक एक भी मनुष्य पूर्ण चैतन्यमयी अनुग्रहशक्ति की प्राप्ति नहीं कर लेगा, उस क्षण तक बहिर्मुखीन दृष्टि का रोध नहीं होगा। इस अविराम सृष्टिधारा का विराम नहीं होगा।

अब तक तो जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट है कि यदि एक भी मनुष्य योग्य बने, तभी इस अवस्था का उदय हो सकेगा। प्राचीन दृष्टि से वह मनुष्य ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ के नाम से उक्त है। जब ब्रह्मा इस प्रकार का अनुग्रह प्राप्त करते हैं, तब अपेक्षित महाप्रलय का ( ब्रह्माण्ड के लिये ) समय आ जाता है। ब्रह्माण्ड असंख्य है, और इस प्रकार का व्यापार भी असंख्य है, और जब समस्त ब्रह्माण्डों की महासमष्टि के अभिमानी इस योग्यता का लाभ करेंगे, तब प्रकृत महाप्रलय होगा। इससे अभिनव सृष्टि की सम्भावना नहीं रह जाती। "सर्वं

खल्विदं ब्रह्म" यह सत्य है, किन्तु प्रलय के साथ-साथ अथवा प्रलय के पूर्व चिदानन्दमय संसारहीन और मृत्युहीन नित्य सृष्टि की सम्भावना नहीं रह जाती। अखण्ड महायोग में जो होगा, उसमें काल का सम्यक् अपसारण एवं तत्पश्चात् उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति के साथ-साथ कालहीन नित्य सृष्टि का उदय होगा। दोनों में यही पार्थक्य है।

## साधक की स्थिति

साधक की धारा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है, वह पर्याप्त नहीं है। यद्यपि साधक योगी से पृथक है तथापि सभी एक प्रकार के नहीं होते। साधक में भी अवान्तर भेद विद्यमान हैं। इन्हें उत्तम, मध्यम, एवं साधारण– तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है।

उत्तम साधक वे हैं जिनमें अभाव की प्रेरणा स्वभाव सिद्धरूपेग उदित होती है। ये साधक अभाव की प्रबलतावश अपने-अपने गुरु का आकर्षण कर लेते हैं। वस्तुतः इस स्थल पर गुरु की अपेक्षा शिष्य का बल अधिक प्रतीत होता है। इनका चरम परिणाम है चिदाकाश में स्वरूप प्राप्ति। चिदाकाश विश्व प्रकृति के जाल से ऊर्ध्व है। ऊर्ध्व होने पर भी यह एक प्रकार का जाल विशेष है। कारण, जो चिदाकाश में स्थिति लाभ करते हैं, वे बिना अन्य की सहायता प्राप्त किये चिदाकाश भेदन में समर्थ नहीं हैं। यह सत्य है कि चिदाकाश अणुसम्बन्ध विहीन है तथापि उसमें आत्मा को भी स्वाभाविक पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं होती। अतः योगीगण चिदाकाश को भी जाल रूप से सम्बोधित करते हैं।

## साधन संकेत

साधक दीक्षाकाल में गुरु से चैतन्य का आभास प्राप्त करता है। उसे उत्थान का मार्ग प्राप्त होता है और उसका अवलम्ब लेकर क्रमशः चलता रहता है। देहमध्य में अपांगचक्र के नीचे, अर्थात् नाभि प्रदेश के अधोभाग में एक त्रिकोण विद्यमान है। वह ऊर्ध्वमुख त्रिकोण है। इस त्रिकोण के नीचे त्रिदल (विल्वपत्र के समान) दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः यह तीन दल नहीं है। ये तीनों तीन कुण्डलिनी की सुप्त अवस्था हैं। दो हैं पार्श्व में, एक है निम्नदेश में। इन तीनों के मध्य जो अधःस्थित है, वह दक्षिण एवं वाम उभय पाश्ववर्ती दो आच्छादनों द्वारा आच्छादित है। जब गुरु द्वारा चैतन्य संचारित होता है तब पार्श्ववती दोनों ढकने खुल जाते हैं। उस समय मध्यस्थित शक्ति जाग्रत हो जाती है। जहाँ से यह शक्ति धारारूप से बहिर्गत होती है उसे सुषुम्ना हृद कहते हैं। इसका वर्णन विशिष्ट प्रकार के शून्यरूप से भी हो सकता है।

चैतन्य-शक्ति का संचार ( अथवा स्वतः सिद्ध भाव से चैतन्य-शक्ति का उन्मेष होना ) इसके संधान के लिये आवश्यक है। ऊपर जिस त्रिकोण का वर्णन कर चुका हूँ, उसके तीनों कोणों से एक-एक धारा निर्गत होती है। दक्षिण एवं वाम धारा से जन्म, मृत्यृ का सम्बन्ध है। जब जन्म होता है, तब जिस धारा से संचार होता है, मृत्यु के समय ठीक उसी धारा से संचार नहीं होता, अन्य धारा से संचार होता है। अर्थात् जिस मार्ग से जीव आगमन करता है, मरणोत्तर स्थिति में उस रास्ते से वापस नहीं लौट पाता, अन्य मार्ग से लौटता है।

त्रिकोण के ऊर्ध्वकोण से जो धारा बहती है उसका नाम है 'मूला'। यह जन्म-मृत्यु की मध्यवर्तिनी धारा है। बिदल-विल्वपत्र निम्नदल रूपी सुषुम्ना हृद

के उन्मुक्त होने पर वहाँ से जो धारा निर्गत होती है, उसके साथ त्रिकोण की ऊर्ध्वधारा की अभिन्नता है। अर्थात् सुषुम्ना रश्मि निर्गत होकर त्रिकोण के ऊर्ध्वलोक का भेद करते उत्थित होती है। मेरुदण्ड के मध्य से यह क्षीण धारा स्कन्धद्वय के मध्यवर्त्ती स्थान पर्यन्त प्रवाहित होती है। साधक इस धारा का आश्रय लेकर अग्रसर होते हैं। यद्यपि यह धारा प्रकाशमयी है, तथापि साधक उसका अनुभव तमसाच्छन्न रूप से करते हैं। त्रिकोण के पृष्ठभाग से इस प्रकार की धारा का निर्गम होता है। त्रिकोण का मध्यबिन्दु साधक आयत्त नहीं कर पाते। उसका नाम मध्य है। उसे योगीगण प्राप्त करते हैं। दुर्बल साधक उसे आयत्त कर अपना पथ नियमित करने में समर्थ नहीं होते।

स्कन्धद्वय के मध्यस्थल से किंचित ऊर्ध्व प्रदेश में एक विशिष्ट केन्द्र है। यह है प्रकृत मूलाधार। प्रचलित योगशास्त्र में इसका कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। इस स्थान से पृष्ठदिक् अवलम्बनपूर्वक मस्तक के मध्य बिन्दु अर्थात् सहस्रदल के केन्द्र पर्यन्त एक नाड़ी अथवा शिरा विस्तृत है। इस शिरा का नाम है नैऋत शिरा। यह नैऋत शिरा एक ओर चिदाकाश एवं अपरदिक् मूलाधार, इन दोनों को युक्त करती है। इसी का आश्रय लेकर अन्तरालवर्ती समग्रराज्य प्रकाशित होते हैं। मूलाधार के ऊर्ध्व प्रदेश में अमृतसर नामक त्रिकोणात्मक एक शून्यमय स्थान विद्यमान है। यह है ( जीव का ) निराकार ज्योतिस्वरूप। इसमें कोई भी दृश्य भासित नहीं होता। यह आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप होने पर भी साधक यहाँ किसी आनन्द का आस्वाद नहीं कर पाते। यह एक विशाल जलाशय के समान प्रतीत होता है। वास्तव में यह है शून्य स्वरूप। साधक इस अमृतसर नामक प्रदेश का अतिक्रम अत्यन्त कष्ट से करते हैं। मनुष्य तैरकर किसी नदी अथवा जलाशय को पार करता है उसी प्रकार साधक साष्टांग योग ( साष्टांग योग = आत्मसमर्पण ) से इस स्थान का भेद करते हैं। दुर्बल साधक के लिये यहाँ दण्डायमान रहना अथवा तद्रूप अग्रसर होना सम्भवपर नहीं होता। अमृतसर में साधक का व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहता है। यही इसका वैशिष्ट्य है। कर्मपूर्ण न होने तक विशुद्ध चैतन्य में स्थिति नहीं होती। इसी प्रकार अमृतसर तक स्थिति होने पर भी मायाजनित निज पृथक सत्ता अपगत नहीं होती। अमृतसर पार होने के साथ-साथ सहस्रदल के दलराज्य अथवा समस्त खण्ड राज्य की प्राप्ति हो जाती है। इसका नाम है चिद्राज्य। एक-एक दल एक पृथक् राज्य है। दल असंख्य हैं, अतः राज्य असंख्य है। प्रत्येक राज्य में ऐश्वर्य

एवं आनन्द का प्राचुर्य है। चिद्राज्य होने पर भी भोग एवं योग्य वस्तु का किंचित् अभाव नहीं है। अमृतसर चिद्राज्य नहीं है। अमृतसर की ज्योति है जीव का सहज आलोक, निरामय प्रकाश। चिद्राज्य साकार है एवं अपेक्षिक-रूपेण जीवत्व विवर्जित है। चारों ओर असंख्य दल हैं। प्रत्येक दल के अधिवासी साधक इन दलों की सम्पदा का भोग करते हैं। किसी-किसी दल में अधिवासी प्रजा का बाहुल्य है। कहीं-कहीं प्रजा की अपेक्षाकृत अल्पता है। जिस परिमाण में चिन्मयता की प्राप्ति होगी, उतनी अधिक बल प्राप्ति साधक को होगी। जो साधक जितने परिमाण में चित्शक्ति का अर्जन करेगा, उसके राज्य में दलगत अधिवासियों की संख्या उतनी ही कम होगी। वह बहुसंख्यक सत्ता को अपने अन्तर्भुक्त कर लेता है। साधक जितना अधिक अग्रसर होगा, उसी अनुपात में उसके राज्य में एकत्व की प्रतिष्ठा होगी। जिस राज्य में अधिवासियों की संख्या जितनी कम होगी, उतना ही वह चिदाकाश के निकट है। जहाँ के अधिवासी मात्र एकजन है। वहाँ का राज्य, अन्य खण्डराज्यों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रकार किसी राज्य में मात्र राजा ही हैं, तो किसी राज्य में राजा का स्थान रिक्त है और मात्र प्रजा की ही अवस्थिति है। इस प्रकार समस्त चिद्राज्य समष्टि को चिद्साम्राज्य कहते हैं। इन असंख्य राज्यों के जो सम्राट हैं उनका आसन है चिदाकाश में, अर्थात् सहस्र-दल कमल की कर्णिका या विन्दु में। चिदाकाश की वेष्ठनी (घेरा) एक कंकण के समान है। चिदाकाश में प्रवेश करते समय एक द्वार का अवलम्बन लेकर प्रवेश होता है। घेरे के अन्दर स्थित १७ राज्य विशेष उल्लेखनीय है।

## चिद्राज्य विस्तार

उपरोक्त १७ राज्य चिदाकाश के पास सन्निहित हैं। इन १७ राज्यों से होकर साक्षात् रूप से चिदाकाश में प्रवेश पाया जाता है। पूर्वोक्त राज्यों से साक्षात्-भावेन चिदाकाश में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। चिदाकाश में प्रविष्ट होकर जो सहस्र-दल के सम्राट रूप से विराजमान होते हैं, वे अपने स्वरूप की उपलब्धि कर लेते

हैं। अन्यान्यजन स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर पाते। इसका एक रहस्य है। उपर्युक्त १७ राज्य कलारूप में वर्णन करने योग्य हैं। चिदाकाश के अधिष्ठाता हैं चन्द्र स्वरूप। षोडशकला ही चन्द्रमा की पूर्णता है। सप्तदश कला पूर्णत्व की साक्षी है। कलाराज्य में आकर कला का विकास कर सकने पर कला पूर्ण हो जाती है, अर्थात् १६ कला का विकास होने पर चिदाकाश में स्थिति होती है। तत्पश्चात् सप्तदशी कला की जागृति होने पर साधक चिदाकाश का भेद कर महाभाव रूपी भूमि में प्रवेश करता है। उसका साक्षीभाव उन्मुक्त हो जाता है, साथ ही योगपथ के खुलने से साधक सिद्ध होकर, चिदाकाश भेद कर, महाभाव रूपी योगभूमि में प्रवेश करता है। उसका यह पथ योगपथ है। जब तक महा ज्ञान का उदय नहीं होता, तब तक इस पथ पर चलता रहता है। चुम्बक के आकर्षण की तरह एक क्रीड़ा निरन्तर चलती रहती है। लेकिन सप्तदशी की प्राप्ति न होने तक पूर्ण में इसके आकर्षण का अनुभव नहीं होता। जब सप्तदशी उद्‌वृत्त होगी तभी यह आकर्षण अनुभूत होगा।

योगी की कृपा से साधक ( सिद्धावस्था के पश्चात् ) योगपथ प्राप्त करता है। योगी की कृपा का अर्थ है, पूर्ण में कोई तरंग क्रीड़ा न कर सके। योगी जब पूर्ण भेद करने चलता है, तब जो लहर उत्थित होती है उसी से षोडशी कला से होकर सप्तदशी कला का आविर्भाव होता है। पूर्ण है जो, वह स्वतः परिपूर्ण नहीं हो सकता। अभाव योगी का निजस्व है, अतः वह पूर्ण से परिपूर्ण के पथ का आविष्कार करने में समर्थ होता है। अभाव-बोध उसे आविष्कार की प्रेरणा देता है।

मनुष्य के चित्त में जो भावरश्मि विराजित है उसके मूल में है कला। कला प्रकृतिरूपा है। जिसमें जिस प्रकार की प्रकृति है या स्वभाव है, उसकी सत्ता में उसी कला की प्रधानता है। कला के विकास में जिस प्रकार मात्रागत भेद है, उसी प्रकार का गुणगत या स्वभावगत भेद विद्यमान है। उत्तम साधक होने पर भी सबकी प्रकृति एक प्रकार की नहीं है, अतएक सबका कलाराज्य भी एक प्रकार का नहीं हैं। जिसकी जैसी प्रकृति है, तदनुसार कलाराज्य उसके लिये चिदाकाश का प्रवेशद्वार है। कला का मात्रागत विकास पूर्ण होने पर चिदाकाश में निज स्वरूप की उपलब्धि को अक्षुण्ण रखा जा सकता है। वस्तुतः यही हैं सम्राट-भाव।

प्रत्येक खण्डराज्य से चिदाकाश का दर्शन होता है। वस्तुतः अमृतसर से लेकर चिदाकाश पर्यन्त एक ही सत्ता विराजमान है। नैऋत शिरा के विस्तार से यही प्रतीत होता है। दलराज्य के बाहर एवं अमृतसर के बाहर नैऋत शिरा के दोनों पार्श्वों पर चतुर्दश लोक विद्यमान हैं। दक्षिण में है मृत्यु-राज्य एवं वाम में मृत्यु राज्य के शासक अवस्थित हैं। साधक मृत्यु के शासक के सामने से होकर अग्रसर होता है। कारण, उसकी गति में प्रत्यावर्तन नहीं है। अपांग चक्र के निम्नस्थित त्रिकोण के जिस कोण से होकर मृत्यु की धारा बहिर्गत हो रही है, वह प्रसारित है नैऋत शिरा के दक्षिण पार्श्वस्थ मृत्यु राज्य पर्यन्त। अमृतसर वास्तव में चिदाकाश का सोपान स्वरूप है।

## साधक भेद

१७ द्वार स्वरूप कलाराज्यों का वर्णन हो चुका है। १७ कलाओं के ऊपर सभी साधक अधिकार स्थापना नहीं कर पाते। मैंने उत्तम साधक की ही बात की है। उत्तम में भी अवान्तर भेद है। उत्तम में भी जो श्रेष्ठ हैं वे १७ कलाओं के पूर्ण अधिकारी होते हैं। सप्तदश कला का नाम है आत्म-बोध। इस प्रकार के साधक चिदाकाश जाकर भी अपने आत्मबोध की रक्षा कर पाते हैं, अर्थात् षोडश कला में पूर्ण होकर सप्तदशी कला के रूप में उद्वृत्त हो सकते हैं। जिनका विकास अपेक्षाकृत न्यून है, उनका अधिकार इतना नहीं होता। उत्तम श्रेणी के अन्तर्गत जो मध्यम साधक हैं वे ११ कलापर्यन्त आयत्त कर पाते हैं। एकादश कला का नाम है चिन्मयराज्य। इसमें भी आत्मबोधका उदय नहीं होता, तथापि चिन्मय अवस्था में स्थिति होती है। जो सब उत्तम साधक नितान्त साधारण हैं, वे पाँच कला पर्यन्त निजस्व करते हैं इसका नाम है सदानन्दलोक।

चिन्मय राज्य से चिदाकाश दर्शन होता है। चिन्मयराज्य से तब तक चिदाकाश प्रवेश उचित नहीं होता, जब तक कला का विकास न हो। कारण

ऐसी स्थिति में निज बोध की रक्षा करना सम्भव नहीं होता। सदानन्दलोक से चिदाकाश दृष्टिगोचर होता है।

अब मध्यम साधक का वर्णन करता हूं। इनकी साधना का परिणाम अपेक्षाकृत न्यून है अर्थात् ये चिदाकाश पर्यन्त नहीं जा पाते। इन्हें चिदाकाश का दर्शन भी नहीं होता। इनकी गति नित्यराज्य पर्यन्त है। ये सब नित्यराज्य चिद्साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं हैं। नित्य होने पर भी कलापुरुष के अधीन हैं। कल्पान्तकाल में अथवा तद्जातीय प्रलय होने पर नित्यराज्य का ध्वंस हो जाता है। दीर्घकालीन होने पर भी ये नित्य नहीं। वास्तविक नित्य राज्य चिदाकाश के ऊर्ध्व महाभाव से लेकर परमाप्रकृति तक विद्यमान है। इन सकल नित्यराज्य में अवस्थान करते समय वे नित्यगुरू द्वारा दीक्षित होते हैं एवं तदनन्तर उनका कर्म चलता है। साधकीय कर्म होने पर भी, यह एक प्रकार से योग का ही कर्म है। इसके प्रभाव से साधक चिद्भवन पर्यन्त अग्रसर होते हैं। अखण्ड मण्डलाकार ज्योति ही चिदभवन है। ये मात्र साक्षी रूप से एक नित्य सिद्ध चिदात्मक अवस्था में विराजित रहते हैं। साधक चिदभवन में जाकर महा चैतन्य में जाग्रत रहते हैं। इन्हें सुप्तता नहीं आती एवं लक्ष्य भी भ्रष्ट नहीं होता। कर्मभूमि में अवस्थान काल में इन्हें जो दीक्षा मिली थी वह कृपायुक्त दीक्षा है। नित्य भूमि में जो दीक्षा इन्हें मिली वह है कृपाहीन दीक्षा। कृपायुक्त दीक्षा खण्डगुरू से मिलती है। कृपाहीन दीक्षा खण्डगुरु नहीं दे सकते। यदि कर्मभूमि में रहते समय महाखण्डगुरू से इन्हें कृपाहीन दीक्षा प्राप्त हो जाती, उस स्थिति में इन्हें नित्यराज्य के कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। मर-देहयुक्त अवस्था में ही चिद्भवन में जाने की योग्यता प्राप्त होती है। चिद्भवन चिदाकाश के निकट होने पर भी एक नहीं है। योगी से असम्बद्ध रहने पर चिद्भवन में यातायात असम्भव हैं। जब साधक चिद्भवन की ओर अग्रसर होता है तब एक-एक योगभूमि का अतिक्रमण करना होता है।

एक प्रकार के साधक की गणना मध्यम श्रेणी में की जा सकती है। ये सब चिदाकाश के ऊर्ध्व महासविता के राज्य में गमन करते हैं। वहाँ जाकर इनकी निज सत्ता लुप्त हो जाती है, तथापि स्वरूप या मूल सत्ता लुप्त नहीं होती। योगी अपने स्वरूप का उद्धार कर चिद्भवन में प्रवेश करते हैं। ये एक बार

अनित्य राज्य में, तदनन्तर एक बार महासविता के राज्य में देह त्याग करते हैं। तत्पश्चात् चिद्भवन में गति प्राप्त करते हैं।

साधारण साधक के सम्बन्ध में अधिक कहना व्यर्थ है। इनमें कोई-कोई श्रेष्ठ होते है। वे गुरु के आकर्षण से आकृष्ट होकर साधन-राज्य में प्रवेश करते हैं। इनकी गति हैं कारण सलिल में अर्थात् मोह माया के आकाश में। ये कारण-वारि में निमग्न हो जाते हैं, किन्तु लुप्त नहीं होते। अतः पुनरावर्तन सम्भव होता है। इनमें जो मध्यम श्रेणी के है, उनकी गति गुणसलिल तक होती है। कारणसलिल से पुनरावर्तन स्वतः घटित होता है, किन्तु गुणसलिल से पुनरावर्तन नहीं होता। जो इनकी अपेक्षा निम्नस्तर के साधक हैं, उनमें धर्मा-धर्म का बोध है, किन्तु आन्तरिकता का अभाव है। ये कारण सलिल में मिलित नहीं होते तथापि इनकी गति स्थल पर भी नहीं हैं। एक प्रकार से महाशून्य के समान निरालम्ब अवस्था में पड़े रहते हैं। कारण सलिल के किनारे असंख्य कुण्ड विराजित है। (प्रचलित भाषा में ८५ लाख कुण्ड कहे जा सकते हैं)। ये साधक अपने भावानुरूप कुण्ड में विषयीभूत हो जाते हैं।

साधक की उत्तम अवस्था में सर्वोत्कृष्ट स्थिति चिदाकाश है। चिदाकाश में आत्मबोध का उदय होता है। अन्यान्य सब अवस्थाओं की गणना इससे न्यून है। फिर भी यह सत्य है कि निम्नस्तरीय साधक अनेक बार चिदाकाशातीत भूमि में स्थिति प्राप्त करते हैं, जैसे महासविता एवं चिदभवन में। दोनों स्थान चिदाकाश के उर्ध्वस्थित हैं। यह प्रश्न उदित होना स्वाभाविक है कि जहाँ उत्तम साधक नहीं जा पाते वहाँ मध्यम साधक की गति कैसे होती है? उत्तर यह है कि ये सब स्थान योगी के प्राप्य हैं। मध्यम साधक योगीगुरु के विशेष सम्बन्धवशात् योगपथ का पथिक होकर योगीलभ्य पद प्राप्त करता है। उत्तम साधक योगी की अधीनता स्वीकार नहीं करता। एक प्रकार से यह उसके उत्कर्ष का लक्षण है। जो साधक १६ कलाओं में अवस्थान करने पर भी एक कला में उद्वृत्त हो सकते हैं, वे एक प्रकार से ऊर्ध्वभूमि में स्थित न होने पर भी अपेक्षाकृत श्रेष्ठ स्थिति सम्पन्न है, कारण उनकी अपनी सत्ता के विकास में अपूर्णता नहीं रह जाती।

## अखण्ड महायोग की सूचना

साधक मोहमाया एवं योगनिद्रा का भेद करते हैं। योगनिद्रा भेद के पश्चात ही उन्हें भेद करने का ज्ञान होता है। भेद करने के पूर्व या भेद करते समय कुछ भी अभिज्ञता नहीं रहती। मोहमाया एवं योगनिद्रा, दोनों आकाश-स्वरूपा हैं। मोहमाया है नीलाकाश एवं योगनिद्रा है धवलाकाश। मोहमाया अत्यन्त गम्भीर है। साधारण लोग इनमें डूब जाते है। योगी के लिये भी इन्हें बाहर करना दुष्कर हो जाता है। यह साम्यमयी है। किसी प्रकार की चंचलता इस आकाश में स्थान नहीं पाती। जो इसमें मग्न होता है, वह इसके साथ अभिन्न हो जाता है। उसे खोज पाना कठिन है। योगनिद्रा अन्य प्रकार की है। उसमें उच्छ्वास है। इसके प्रभाव से साधक योगनिद्रा का भेद करके बोध के स्तर में उन्नीत हो जाता है।

कर्म से योगनिद्रा का भेद होता है, लेकिन कर्म से मोहमाया का भेद नहीं होता। जब तक पृथ्वी में विशुद्ध चैतन्यराज्य प्रतिष्ठित नहीं होता तब तक योगनिद्रा अपनीत नहीं हो सकती। योगनिद्रा अपनीत होने पर विश्व-चैतन्य मायाच्छन्न नहीं रहेगा। जीव का समष्टिकर्म पूर्ण होने पर योगनिद्रा नहीं रह जाती। जब तक समष्टि कर्म पूर्ण नहीं है तब तक योगनिद्रा चिर-स्थायिनी है। समष्टिकर्म होने पर व्यष्टिकर्म का अभाव शेष रह जाता है। व्यक्तिगत कर्म अपूर्ण रहने पर भी, समष्टिकर्म पूर्ण हो सकता है। व्यष्टिकर्म शेष रह जाने से भी योगनिद्रा भंग करने की क्रिया में बाधा नहीं पड़तो। जिसे साधारणतया महाप्रलय की संज्ञा दी जाती है, वह समष्टि कर्म पूर्ण होने पर ही घटित होता है। व्यष्टिकर्म शेष रह जाने से जगत का आमूल परिवर्तन नहीं हो रहा है। समष्टिकर्म पूर्ण होने पर व्यष्टिकर्म का पुरुषाकार रूप में स्फुरण होता है। इसके पूर्व जो व्यष्टिकर्म हो रहा है, वह प्रकृत व्यष्टि-कर्म नहीं है। उसके प्रभाव से महामाया का राज्य भंग नहीं हो सकता।

जैसे एक ओर अखण्ड सत्ता है, वैसे ही अपरदिक अखण्डरूपा मोहमाया विद्यमान है। मोहमाया का आलोक अखण्ड चैतन्य का कणमात्र है। योगनिद्रा में वह भी नहीं है। कारण वहाँ परमाणु सुषुप्ति में मग्न हैं। मोहमाया का राज्य वास्तव में उसी कणमात्र प्रकाश से आलोकित है। कालरात्रि, मोहमाया एवं योगनिद्रा, दोनों की अन्तरालवर्तिनी है। मनुष्य जन्मग्रहण करके जब तक मृत्यु के अधीन नहीं होता तब तक वह कालरात्रि के अधीन होकर स्थिर रहता है। योगनिद्रा भेद होने पर भी योगमाया से सम्बन्ध छिन्न नहीं होता। चिदाकाश योगमाया से अतीत है। चिदाकाशातीत भूमि में शुद्ध माया कार्य करती है। महाज्ञानोदय के पश्चात् शुद्धमाया भी अपनीत हो जाती है, तब एक मात्र परमाप्रकृति शेष रह जाती है। इसे भी कर्म द्वारा निजस्व कर लेने पर विश्वमाया का अवसान हो जाता है। इसके पश्चात अखंड महायोग की सूचना मिलती है।

योगी के मुख्यमार्ग का वर्णन करने के पूर्व साधक संक्रान्त आनुषंगिक चर्चा संक्षेप में करूँगा। साधक को ज्ञान एवं दर्शन समभाव में प्राप्त नहीं होता। कोई साधक ज्ञानमध्य से संचार करते हुये दर्शन में उपनीत होता है। ऐसे भी साधक हैं जो पहले दर्शन पाते हैं, तत्पश्चात उन्हें ज्ञानोपलब्धि होती है। जो दर्शन का अवलम्ब लेकर ज्ञानपथ पर अग्रसर होते हैं वे मध्यम साधक हैं। उन्हें पुरुषाकार की धारा अथवा प्रकृति धारा में चलना पड़ता है। जो पुरुषाकार की धारा का अवलम्बन करते हैं, वे बैकुण्ठ की ओर अग्रसर होते हैं। प्रकृति की धारा वाले गोलोक की ओर गति प्राप्त करते हैं। बैकुण्ठ धारा में जड़भाव की प्रधानता है, उसमें आन्तरिक स्वातंत्र्य अनभिव्यक्त रहता है। गोलोक धारा तद्विपरीत है। इसमें जो पथ प्राप्त होता है, वह योगपथ है। यह स्वभाव का पथ नहीं है अर्थात् गोलोक के पश्चात कुछ भी नहीं है। गोलोक निर्गुण लक्ष्य स्वरूप है। इसके पश्चात् लक्ष्यरूपी द्रष्टा अपने स्व पथ पर चलता रहता है। पूर्वप्रचलित कोई पथ नहीं प्राप्त होता। चिदाकाश से जो योगपथ प्राप्त होता है, वह अभाव का पथ नहीं है, वह है स्वभाव का पथ। अतएव उसका धारारूप से वर्णन संभव है। यह परमाप्रकृति पर्यन्त प्रसारित है।

यद्यपि चिदाकाश एक ही प्रकार का है, तथापि साधक एव योगी को एक प्रकार का प्रतीत नहीं होता। साधक को चिदाकाश की प्राप्ति होती

है वृत्तरूप से अर्थात् गोलाकृत रूप से । योगी को उसकी उपलब्धि होती है चतुष्कोण रूप से ।

योगी योग पथ पर निर्गत होता है, अपांग देशस्थ निम्नस्थ त्रिकोण के मध्य-विन्दु से । योगी चिदाकाश भेद करके जाता है । चिदाकाश योगी का चरम लक्ष्य नहीं है । चिदाकाश से अवतरण करने पर, देह की पृष्ठभूमि का अवलम्ब लेकर मेरुदण्ड के मध्य से उतरते हुए, विभिन्न स्तरों का विकास करते करते, योगी नाभि-समुद्र को पूर्णरूपेण जागृत करता है । नाभि-समुद्र अथवा नाभिःसरोवर सहस्र-दल कमल का स्थान है । ऊर्ध्वस्थ चिदाकाश सहस्रदल कमल का स्थान है । साधक का लक्ष्य है ऊर्ध्वमुख । अतएव साधक ऊर्ध्वगति समाप्त होने पर सिद्धि-लाभ करता है । साधक के मत से चिदाकाश के पश्चात् और कोई स्थान गन्तव्य नहीं है । योगी तद्विपरीत ऊर्ध्वस्थ एवं अधस्थ, दोनों शक्ति को समानरूपेण उद्वृत्त करता है । ऊर्ध्वशक्ति की क्रिया समाप्त होने पर ही यह संभव है । अधःशक्ति ही क्रिया की समाप्ति का निदर्शन है, अर्थात् नाभि सरोवरस्थ सहस्रदल कमल का पूर्ण विकास । ऊर्ध्वसहस्रदल शिवरूपी है, अधस्थ सहस्रदल है शक्ति रूपी । दोनों तुल्यवल हैं, अतः परमेश्वर सम्बन्ध में साम्यभाव का आविर्भाव होता है । तत्पश्चात् संधिपथ से निर्गत योगी निजस्वरूप की उपलब्धि करता है । अर्थात् निजस्व मन की प्राप्ति उसका लक्ष्य है । यह अपांग कमल में प्रत्यावर्तन न करने से संभव नहीं होता । जहाँ से ऊर्ध्वगति उन्मिषित हुई है, अन्त में वहीं तक पहुंचने पर कार्य की समाप्ति होती है ।

दीक्षाकाल में योगी गुरु से ( साधक एवं योगी शिष्य ) चैतन्यशक्ति प्राप्त कर कर्मजीवन प्रारम्भ करते हैं । प्रश्न उठता है कि एक ही चैतन्यशक्ति प्राप्त करने पर भी साधक उसे बीजरूपेण एवं योगी कायारूप में क्यों प्राप्त करते हैं ? जन्मगत आपेक्षिक दुर्बलतावश साधक अत्यन्त उग्र तेजवस्तु धारण नहीं कर सकते । योगी का आधार अपेक्षाकृत सबल है, अतः वह धारण करने में समर्थ होता है । बीज मातृगर्भ में आकर क्रमशः वर्धित होता है । उसका आकार गठन परिपूर्ण होने पर वह निष्क्रान्त होता है । निष्क्रान्त होने के पश्चात् वह एक ही प्रकार का नहीं होता । साधक बीज प्राप्ति के पश्चात् कर्मशक्ति द्वारा उस बीज को गुरुकाया रूप में, अर्थात् स्वकाया रूप में, किंवा इष्ट रूप में परिणत करता है, तत्पश्चात् उसका पृथक अस्तित्व नहीं रहता । अर्थात् वह स्वयं इष्ट-

रूप में अथवा प्रकृति रूप में पूर्णता प्राप्त करता है। यही चिदाकाश में स्थितित्व का प्रकृत तात्पर्य है। जब सप्तदशी कलारूप का उदय उद्‌वृत्तभाव से होता है (अर्थात् महाभाव में प्रवेश होता है) तब साक्षीरूप से पुरुषभाव का उदय होगा। यह योगी भाव है। प्रकृति अथवा शक्ति बिना योग सम्भव नहीं। योग-भात्र अर्थात् स्वयं शक्ति एवं स्वयं शक्तिमान। शक्ति अर्थात् चैतन्यमय स्वरूप। शक्तिमान (अर्थात् शक्ति के अतीतस्थ शिवभाव की अवस्था) चिन्मयस्वरूप में अपने साथ अभिन्न रूप से विद्यमान रहता हैं अथच् निजस्व उसके अतीत है। साधक अपनी दुर्बलता से इस उच्च भाव को धारण करने में असमर्थ है। अतएव गुरु प्रथम अवस्था में साधक को स्वकाया दान नहीं करते। बीज अपेक्षाकृत मन्दशक्ति सम्पन्न है, यद्यपि उसकी विशुद्ध चेतनता में कोई सन्देह नहीं है। साधक क्रमशः अणु से मुक्त होकर पूर्णशुद्धि प्राप्त कर, विशुद्धचित्स्वरूपा काया धारण करने में समर्थ होता है। उस समय उसकी अणुसम्बन्धी काया नहीं रह जाती। अत-एव अणुसम्बद्ध काया का अभाव एवं चिन्मयकाया धारण बोध, इन दोनों के अन्तराल की अवस्था शेष रह जाती है। यही है चिदाकाश स्थिति। यह षोडश-कलायुक्त पूर्ण अवस्था है, तथापि इसमें पूर्णता का बोध नहीं रहता। यहां बोध के उदय से उद्‌वृत्त भाव का आविर्भाव होता है एवं योगमार्ग में प्रवेश होता है। साधक चिदाकाश भेद के उपरान्त जो अवस्था प्राप्त करता है, अति साधारण योगी भी योग-दीक्षा के पश्चात् उस अवस्था को गुरुकृपा से प्राप्त करता है। इसी कारण साधक का कार्य, योगी का कार्य एवं उद्देश्य तथा प्रयोजन एक प्रकार का नहीं होता। चिन्मय काया का पूर्णांग विकास साधक का लक्ष्य है, किन्तु वह योगी का लक्ष्य नहीं है।

## हृदय एवं चिदाकाश

प्रत्येक साधक के लिए हृदय का ज्ञान आवश्यक है। कारण साधारणतः जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के साथ-साथ हृदय सम्बद्ध है। हृदय से नाड़ीजाल प्रसृत होकर समस्त देह पर्यन्त व्याप्त है। जाग्रत अवस्था में अनेकानेक नाड़ी हृदय से निकल कर अन्नमय कोष द्वारा इन्द्रिय द्वार पर्यन्त संचालित होती रहती है।

इन नाड़ियों द्वारा इन्द्रियाँ क्रियाशीलता प्राप्त करती हैं और रूपरसादि बाह्य-जगत् के विषयों को ग्रहण करती हैं। इस प्रकार अन्नमय कोष हृदय के साथ संश्लिष्ट है। प्राणमय कोष की भी यही स्थिति है। मनोमय कोष स्वप्नदर्शन से संयुक्त है। इस अवस्था में हृदय अज्ञानाच्छन्न होने पर भी मनोवहा नाड़ी द्वारा अधिगत रहता है।

सुषुप्ति काल में इन नाड़ियों में क्रियाशीलता नहीं रहती। मन हृदय निमज्जित रहता है। हृदय अज्ञान से आच्छन्न रहता है। इसके पश्चात् जिनमें तनिक भी ज्ञानोदय हो चुका है, वे ऊर्ध्वयोग के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। वे हृदय से संचालित ऊर्ध्व नाड़ी द्वारा चालित होते हैं। उनका देहात्मबोध अस्तमित हो जाता है। उन्हें सुषुम्णा की क्रिया स्पष्टतया अनुभूत होती है। वे इस स्थिति में भूताकाश और चित्ताकाश से उत्तीर्ण हो जाते हैं। चित्ताकाश से उत्तीर्ण होने पर चिदाकाश की गति होती है। इसे मनोमय कोष के परे विज्ञानमय कोष में अवस्थान कहा जाता है। चिदाकाश में अखण्ड सत्ता अनन्त रूप में भासित होती है। दिव्यरूप-दिव्यगंधादिक का अनुभव होता है। देश-काल की सीमा साधक की दृष्टि को आबद्ध नहीं करती। साधारण अवस्था में एक अधोगति का भी सम्पर्क होता है। इस अवस्था में इन्द्रियों की क्रिया अस्त हो जाने से बाह्यविषयों का ग्रहण नहीं होता। तथापि प्राणों की क्रिया अवशिष्ट रह जाती है और जीव स्वप्न जगत् में संचरित होता रहता है। हम जाग्रतावस्था की तरह स्वप्नावस्था में भी नाड़ियाँ कार्यशील रहती हैं। जाग्रतावस्था में स्थूल जगत के विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं। स्वप्नावस्था में भी सूक्ष्मजगत् के विषयों का आस्वादन होता है। सुषुप्ति अवस्था में मन नाड़ीपथ में संचार नहीं करता और हृदय में निष्क्रिय भाव से पड़ा रहता है। सुषुप्ति में बाह्य एवं आभ्यन्तर, दोनों जगत् का कोई बोध शेष नहीं रहता। यह मन की निष्क्रियावस्था और अविद्याच्छादित स्थिति है।

यह सुषुप्ति जीवन्त प्रयत्न से पुनः दूरीभूत होती है। इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का चक्र चलता रहता है। यही है संसार चक्र। जिन्हें ज्ञान का संधान प्राप्त हो चुका है, वे ज्ञानालोक से हृदयान्धकार का उच्छेद करने में समर्थ होते हैं। इस स्थिति में मन सुषुप्त नहीं रहता और जाग्रत होकर (हृदय भेद के पश्चात्) ऊर्ध्वोन्मुख होने लगता है। हृदय से निकल कर असंख्य नाड़ियाँ

निम्नदेश की ओर, चतुर्दिक व्याप्त हैं। यही संसारावर्त्त हैं। ज्ञानीजन इस आवर्त्त में पतित नहीं होते। वे ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णा का आश्रय लेते हैं। इसी को लक्ष्य करके 'शतं च एका हृदयस्य नाड्य' कहा गया है। यह एक है ब्रह्मनाड़ी सुषुम्णा। यह ब्रह्म नाड़ी ऊर्ध्व में अनन्तरूप से व्याप्त है। ( नाड़ी से इस प्रसंग में रश्मि से तात्पर्य है ) इस नाड़ी की सहायता से विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष में स्थिति प्राप्त होती है। विज्ञानमय कोष तक उत्थित होने के पश्चात् आनन्दमय कोष में स्थिति प्राप्त होती है। इस स्थिति को जागतिक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :—किसी का निमन्त्रण प्राप्त होने के पश्चात् जब व्यक्ति उसके सन्निकट होता है, उस स्थिति में उस व्यक्ति की ओर से भी निमन्त्रित का आदर करने के लिये (अगवानी करने) द्वार पर कुछ लोग उपस्थित मिलते हैं। साधन मार्ग में भी यह नियमानुवर्तिता परिलक्षित होती है। साधक की ऊर्ध्वगति एवं महाशक्ति द्वारा कृपा का उच्च उर्ध्वभूमि से साधक की निम्न ऊर्ध्वभूमि पर निक्षेप, इन दोनों के सम्मिलन से, एक अपूर्व आनन्द राज्य की सृष्टि होती है। यह है आनन्दमय कोष की भित्ति।

यह नाड़ी ( सुषुम्ना ) भी हृदय से प्रसृत है। इस नाड़ी की गतिशीलता से साधक पंचभूतसमाविष्ट जाग्रत जगत्रूप भूताकाश से तथा स्वप्नमय चिताकाश रूप जगत से मुक्त होकर चिदाकाश रूप चिन्मय जगत् में संचरण करता है। उसका देहाभिमान पहले से ही विनिवृत्त है। हृदय विकसित होकर एक प्रस्फुटित कमलाकृति में सुशोभित होता है। भारतीय कवियों एवं ऋषियों ने हृदय कमल शब्द का प्रयोग यथार्थ और उचित किया है। सूर्योदय से कमल का विकास संभव है। हमलोगों का हृदय रूपी कमल भी सूर्योदय से विकसित होता है। अन्धकाराच्छन्न स्थिति में हृदय भी अन्धकार में विलीन रहता है, अतएव उसका अस्तित्व अनुभूत नहीं हो सकता। साधन मार्ग में अपने हृदय का साक्षात्कार अत्यावश्यक कार्य रूप से वर्णित है। हृदय हैं, आकाशस्वरूप। प्राचीन ऋषिगण इसे भी दहराकाश की सज्ञा प्रदान करते हैं। उपनिषदों ने भी दहरविद्या की विवेचना की गई है। अत्यन्त भाग्यवान साधक इसका परिचय प्राप्त करते हैं। हृदय ही अन्तराकाश है। प्रत्येक व्यक्तिके साथ नित्यसिद्धरूप से वर्तमान रहनेपर भी, उन्हें इसका संधान नहीं मिलता। शास्त्रों में उल्लेख है कि अपने इष्ट देवता का दर्शन हृदय में प्राप्त हो सकता है। जब तक हृदय अन्धकार से आच्छन्न है, तब तक इष्टदेवता गुरु अथवा परमधाम का अन्तःसाक्षात्कार संभव नहीं। अतः साधक का कर्तव्य है हृदय प्राप्ति के लिये कर्मशील होना।

निदिध्यासन के लिये मनन एवं मनन के लिये श्रवण आवश्यक है। हृदय का अर्थ भौतिक हृदय ( Physical heart ) नहीं। किसी भी बाह्य उपमा से इसे समझना असंभव है। यह अन्तराकाश से ओतप्रोत है, जहाँ बाह्य व्यापार की कोई गति ही नहीं है। इसमें अन्तर्मुखी शक्ति का आधार विन्दु है। मनुष्य की समग्र देहसत्ता में षट्चक्र केन्द्र विद्यमान हैं। भूतशुद्धि एवं चित्तशुद्धि के पश्चात् चित्त की एकाग्रता का उदय होता है। चित्तैकाग्रय् से दृष्टि भ्रूमध्य में निबद्ध होती है। इस एकाग्रभूमि का उदय होता है, बाह्यज्ञान रहितावस्था मे उदीयमान सूर्य के समान ज्योतिर्मण्डल के चिन्तन से। इस चिन्तन से अन्तर्जगत् आलोकित होता है। यह आलोक साधारण स्थिति में अस्त है, अथवा चंचल स्थिति में उपलब्ध होता रहता है। एकाग्रता से इसमें स्थिरता आती है। इस स्थिर प्रकाश के प्रभाव से हृदय कमल प्रस्फुटित हो उठता है। इसके पश्चात अन्तराकाश की अभिव्यक्ति सम्पन्न होती है। अन्तराकाश हृदय कमल की कर्णिका स्वरूप है। इस स्थिति में प्रस्फुटित हृदय कमल दृष्टिगोचर होता है और उनके मध्य एक चिन्मय महाप्रकाशमय जगत् स्फुरित हो उठता है। यह बहिर्जगत् हे अन्तर्जगत् नहीं है। इन्द्रियद्वार की उन्मुक्तावस्था में बहिर्जगत् का दर्शन होता है। इन्द्रिय जगत की बद्धावस्था में अन्तर्जगत् का दर्शन सम्भव है। इसका प्राकट्य होता है अपने सम्मुख। यह सामुख्य है–अन्तरावस्था का साम्मुख्य। इस कमल में देवी देवता का दर्शन, सिद्ध महापुरुषगण का दर्शन प्राप्त होता है। सम्मुखीन दर्शन होने के कारण, इसे आँखों की उन्मुक्तावस्था में भी देखा जा सकता है। ( आँखों की उन्मुक्तावस्था में ) यह दर्शन बाह्य दर्शन नहीं अपितु अन्तर्दर्शन ही हैं। अपनी अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा यह दृष्ट होता है। इस दृष्टि के सम्मुख जो कुछ भी प्रकाशित होता है वह सब चिदाकाश में ही प्रकाशित जानना चाहिये। उस समय ज्ञात होता है कि "मै अपनी सत्ता से बाहर देख रहा हूँ" परन्तु वास्तविकता यह है कि ( यह दर्शन आन्तरिक दर्शन होने के कारण ) अपनी सत्ता के ही अन्तर्गत दर्शन प्राप्त होता है। अन्तराकाश ही चिदाकाश है।

चिदाकाश, चिदालोक से आलोकित है। यह राज्य हृदय में सदा सर्वदा-सुप्रतिष्ठ है। प्रत्येक में यह महासत्ता विराजित है। दर्शन होता है, हृदयाकाश आलोकित होने तथा हृदय कमल प्रस्फुटित होने के पश्चात्। इस अवस्था में अनन्त महासत्ता के रूप में हृदय का प्रतिष्ठा होती है। वास्तव में प्रत्येक जीवों में भिन्न-भिन्न हृदय की स्थिति नहीं है। गीता में भगवान कृष्ण की

"सर्वभूतानां हृद्देशे" उक्ति में, सर्वभूत बहुवचन है, तथापि हृद्देशे एक वचन है। इसका भी एक गंभीर रहस्य ज्ञात होता है। इस हृत्प्रदेश मे ईश्वर या परमात्मा नित्य प्रकाशमान है। वे माया के अधिष्ठाता हैं एवं वे इसी मायारज्जु के द्वारा सबको संचालित करते हैं। वस्तुतः किसी भी क्षेत्र में मनुष्य का कर्त्तृत्व नहीं है। वह अज्ञानवशात् अविद्या के कारण स्वयं को कर्त्ता मान कर कर्मफल का भोग करने को बाध्य होता हैं। जिनको इस जाग्रत हृदय का संधान प्राप्त हो चुका है, वे सम्पूर्णतः हृद्देश पर निर्भरशील हो जाते हैं। जो हृदय में अधिष्ठाता रूप से नित्य विराजित हैं, वे ही एकमात्र कर्त्ता हैं। मनुष्य का समस्त कर्त्तृत्व बोध अमूलक है। उन सर्वमय कर्त्ता का शरणागत भाव से आश्रय लेना ही होगा। इसके पश्चात् जो कुछ भी करणीय है, वह उनकी जाग्रत शक्ति से ही घटित होता है। हृदय साक्षात्कार के साथ-साथ समस्त अन्तराकाश स्वयमेव आलोकित हो उठता है। उसकी तुलना में जागतिक ज्ञान अत्यन्त तुच्छ है। इसी कारण उदयकालीन सूर्य का चिन्तन ( ध्यान ) अत्यावश्यक है। इसके प्रभाव से अन्तःप्रदेश में प्रकाश उन्मुक्त हो जाता है और हृदय कमल प्रस्फुटित हो उठता हैं। अखण्ड महासत्ता नित्य प्रकाशमान रूप में प्रकट हो जाती है। साधक उसे स्व स्वभावानुरूप उपलब्ध करता है और महासत्ता भी अकुन्ठित रूप से भक्त ( साधक ) के निकट उपस्थित हो जाती है। यद्यपि पिता, माता, सखा, कान्त, कान्ता, गुरु इत्यादिक समस्त भाव उसमें प्रकाशित होते हैं, अथच वह महासत्ता समस्त भावों से अतीत भी है। साधक किसी भी भाव से आविष्ट क्यों न हो, किसी भी धर्म का धर्मावलम्बी क्यों न हो, वह महासत्ता सब के लिये समान रूप से सत्य एवं आधारभूता है। एक अखण्ड महासत्ता अनन्त रूपों में अपना आत्मप्रकाश करती है। साधक को भावानुरूप रूप की प्राप्ति होती है। जब तक हृदय उन्मुक्त नहीं है, तब तक सब कुछ कल्पना मात्र है। यह अन्तराकाश सब कुछ है। यहाँ तक कि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वर्णित Fourth Dimention से लेकर Infinite Dimention पर्यन्त सब कुछ भी वही है। इस अन्तराकाश की प्रस्फुटित सत्ता को इन्द्रियों की बहिर्मुख अवस्था में बाहर भी देखा जा सकता है परन्तु बाह्य जगतस्थ मनुष्य जिनका हृदय उन्मुक्त नहीं है, इसे नहीं देख सकते। निरोध सम्पन्न साधक इस अतीन्द्रिय अवस्था को अपने सम्मुख प्रकाशित होते देख सकता है। उसमें कोई भी व्यवधान नहीं रहता। इसकी इस प्रकाशावस्था में भी मायिक आयाम में आबद्ध व्यक्ति इसकी उपलब्धि नहीं कर सकते।

हृदय से उर्ध्वगमनशील नाड़ी की सत्ता का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जो भाग्यवान साधक इस उर्ध्वनाड़ी में संचरण करने में समर्थ होते हैं अथच पूर्णत्त्व-लाभ के पूर्व देहत्याग करने बाध्य होते हैं, ( उनके नवीन जन्म में ) उनमें यह शक्ति संस्कार रूप से विद्यमान रहती हे। ज्ञानी महापुरुष के सम्पर्क से यह संस्कार जागृत हो उठता है। फलस्वरूप अत्यल्प समय में व्यक्ति का पूर्णत्व में प्रवेश संभव होता है। यहाँ स्मरणीय है कि हृदय से मूर्धा पर्यन्त ३६ अंगुल उर्ध्वगति का मार्ग है। जिन्हें इस मार्ग का संधान प्राप्त है, यदि उनकी पूर्णत्व प्राप्ति के पूर्व ही मृत्यु हो जाती है, उस स्थिति में ( नवीन जन्म में ) उनका यह पथ शीघ्रता से उन्मुक्त हो जाता है। साधारणतया श्वास-प्रश्वास की गति है, हृदय प्रदेश से निम्नगामिनी अथवा उर्ध्वगामिनी। द्वितीय अवस्था है हृदय प्रदेश से बहिर्देश में, अन्य है हृदय प्रदेश से अन्तर्देश में। तृतीय स्थिति है हृदय से मूर्धा पर्यन्त । प्राणिमात्र मे श्वांस की गति ( स्थूल दृष्टि से ) अन्त-र्बाह्य अवस्था में संचालित रहती है। मनुष्य में जो विशेष धारा है वह है हृदय से मूर्धा की ओर, अर्थात् उर्ध्व प्रदेश की ओर। किसी व्यक्ति विशेष में इस स्थिति को देखकर यह ज्ञात होता है कि पूर्व जन्मों उसने उर्ध्वस्थिति को आयत्त किया था। बौद्धगण इसे स्त्रोतापन्न अवस्था कहते हैं। ऐसे व्यक्ति को वर्तमान जन्म में अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। कारण गुरु उसके ऊर्ध्वस्रोत को जाग्रत कर देते हैं और साधक सहज रूप से पूर्णत्व मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। कारण, उसने पूर्वजन्म में उस उर्ध्वस्रोत को प्राप्त किया था। उसे वर्तमान जन्म में उर्ध्वस्रोत की प्राप्ति नवीन रूप से नहीं करनी पड़ती। पूर्णत्व लाभ का प्रथम सोपान है, अधोगामी अवस्था की मध्याकर्षण सीमा से बाहर अवस्थान। इसके पश्चात् क्रमशः उर्ध्वरोहण के साथ-साथ पूर्णज्ञानोदय की चरम अवस्था की प्राप्ति। योगीगण इसे मस्तक की श्वास कहते हैं। इसे प्रारंभिक अवस्था में साधक स्वय-मेव नहीं जान सकता। साधना की पूर्णता के साथ-साथ श्वास जनित गति अस्त-मित हो जाती है। अधोगति एवं उर्ध्वगति, दोनों का अवसान हो जाता है। यह है हृदय में अवस्थिति। इसका नाम है पूर्ण ज्ञानोदय। हृदय की प्राप्ति के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता। माया का आवरण अपसारित हो जाता है। मुक्त पुरुष चिदाकाश में स्वच्छन्द विचरण करते हैं।

# तंत्र फाउन्डेशन

( एक महान परम्परा )

तंत्र फाउन्डेशन का इतिवृत्त पूर्व परम्परा की दृष्टि से अति प्राचीन है। वह जो पहले अव्यक्त सा था, अब अपनी व्यक्तावस्था में उपरोक्त संज्ञा से अभिहित होकर प्रकाशित है। दीर्घजीवी महर्षि मतंग तथा महर्षि महातपा ने इस परम्परा के अखण्ड प्रदीप को सिद्धाश्रम एवं ज्ञानगंज की रहस्यमयी गुप्त भूमि में सदियों से जलाये रक्खा है। यह प्रदीप हमारे हृदय प्रकोष्ठ में निहित, आखों से ओझल, युगान्तव्यापी अन्धकार का नाशक है।

इन परम्पराओं से परिपूत एवं मानवता के चरम लक्ष्य के वाहक इस संस्थान ने सभी दर्शन धाराओं का समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत करना प्रारंभ किया है। इससे यथार्थ ज्ञान चेतना की अनन्त नीलिमा से प्रादुर्भूत हो स्व बोध भूमि पर प्रकाशित हो उठता है।

—: o :—

ग्रन्थमाला प्रवर्तक महातत्वयोगी दादा सीताराम जी
के साथ पाश्चात्य भक्त फादर सोपेना

**कविराज जी का साहित्य** महाओंकार की भांति अद्भुत एवं मधुर है। इसमें कहीं तो कोमल परदों पर सुमिष्ट रस का उल्लासपूर्ण रूपायन है, तो कहीं अच्छेद्य परिभाषाओं की कठोर शृंखल झंकार! दोनों अतियों में उनकी लेखनी सहज सावलील विहार करती सी प्रतीत होती है सर्वान्त में उनकी समन्वयात्मिका प्रज्ञा के जीवन्त कणों का संस्प से सब कुछ अमृतमय हो उठता है।

SVB L
S.No.-
Subject
Lite
Sub. C